श्री
भूमिका ।

यंशैवाः समुपासतेशिवइति ब्रह्मेतिवेदान्तिनो ।
बौद्धाबुद्धइतिप्रमाणपटवः कर्त्तेतिनैय्यायिकाः ॥
अर्हन्नित्यथजैनशासनरताः कर्मेतिमीमांसिकाः ।
सोयम्वोविदधातुवाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथोहरिः ॥

सर्व पाठकगण को विदित हो कि यह 'ब्रह्मदर्शन' नामक ग्रन्थ जिसके अवलोकन का अवसर अब आपको मिला (और जिसकी भूमिका लिखना मैं अपना सौभाग्य समझता हूं यह अपनी) भाँति का नवीन प्रबन्ध है, यहाँ पर नवीन शब्द से यह अर्थ न लेने चाहियें कि इसमें कोई नवीन सङ्कल्प रचे हुवेहैं जो प्राचीन सिद्धान्तों के अनुकूल नहीं किन्तु इस ग्रन्थ का प्रयोजन उन सनातन आशयों को नवीन विधिसे स्पष्ट करके दिखाना है जिनके लक्षार्थ का बोध वर्तमान काल में बुद्धि से दूर होगया है और विश्वास की न्यूनता के कारण मनुष्यों का निश्चय शिथिल होताजाता है; यह ग्रन्थ श्रुति अनुभव और प्रत्यक्ष तीनों प्रमाणों के अनुसार ब्रह्म विद्या और अध्यात्म विद्या के रहस्यों को खोलता हुआ परमार्थ का लाभ देनेवाला है

इसके अवलोकन से पहिले मैं पढ़नेवालों को सूक्ष्म रीतिसे
ह जताना चाहता हूँ कि--

(१) यह चित्रकाव्य का प्रथम ग्रन्थ है जिसमें उन्हें सुने हुए
ाशयों के रूप प्रत्यक्ष देखने में आवेंगे और नेत्रद्वारा श्रोत्रकी
ाक्षी मिलने से आत्मिक निश्चय की दृढ़ता होगी।

(२) इस ग्रन्थमें अंकविद्या और रेखगणित के प्रमाणों सहित
ह्म और अध्यात्म विद्या दोनों ऐसी युक्ति से सिद्ध कीगई हैं
के सामान्य बुद्धिभी उनको तत्काल ग्रहण करलेती है और
ना का समाधान होजाता है।

(३) देखने को तो यह छोटासा ग्रन्थ है परन्तु इसके अन्तर
द उपनिषद् षड्शास्त्र और पुराणों का सार तथा बहुत से
सिद्ध महात्माओं के अनुभव संक्षेप करके भरेहुए हैं और
योतिष इतिहास और भूगोल विद्या के प्रमाणों का भी वर्णन
आ है।

(४) इस ग्रन्थ का यह उत्तम कार्य्य है कि वह किसी मत
ा खण्डन किये बिना मतान्तर की भेददृष्टि को दूर करता है
ौर विज्ञान में सबकी एकवाक्यता दिखलाता है और इसमें
ह्मा विष्णु और शिवादि देवताओंने जो अपने निज स्वरूप
ी महिमा सबसे अधिक बताई है उसका अभिप्राय उनके
ारण और कार्य रूप के विचारने से भलीप्रकार समझ में आ
कता है वास्तव में कोई भेद नहीं है।

(५) इस पुस्तक में नतो संस्कृत के ऐसे गूढ़ शब्द आये

हैं जिनके अर्थ जानने के लिये बहुत पाण्डित्यकी आवश्यकत
हो और अंग्रेज़ी फ़ारसी और अन्य भाषाओं के शब्द मिश्रि
हैं जिनका समझना कठिन हो, किन्तु इसकी भाषा ऐसी शु
और सरल है कि उसे महाराष्ट्र और पांचाल गुजरात औ
बंगाल सर्व देशों के निवासी सुगमता से पढ़ और समझसकतेहैं

यह "ब्रह्म दर्शन" दिल्ली निवासी रायबहादुर पण्डित
जानकीनाथ मदन का अनुभवकृत है, जिसको मैंने दो व
के समय में संग्रह करके और उनकी खेंची हुई चित्रों को प
पर छपवाकर ग्रन्थ का रूप दिया है और चित्रोंको पुस्तकके
पत्रों से निकलता हुआ इस हेतु से रक्खा है कि पढ़ने वाले
प्रत्येक वृत्तान्त के प्रसंग में उसकी चित्रको सन्मुख रख कर
विचारते चले जावें, पूर्वोक्त पण्डित मेरे पिता हैं जिन्होंने ४०
वर्ष पर्य्यन्त ब्रह्म और अध्यात्म विद्या के अनेक ग्रन्थों को
विचार के और देश देशान्तर की यात्रा करते हुए अनेक महा
पुरुषों के सत्संग का लाभ उठाके अपने आन्तर्य्य त्याग और
अभ्यास युक्ति से इस अमूल्य ग्रन्थ की रचना की है, जो
गुणग्राहक इस ग्रन्थ के यथार्थ वाक्यों को प्रेम सहित पढ़ेंगे
और उसके आशय को पक्षपात छोड़के विचारेंगे वह रोचक
और भयानक संशयों से निवृत्त होंगे और आत्म स्वरूप का
आनन्द पावेंगे।

दिल्ली चूड़ीवाली गली
सम्वत् १९६१ चैत्र बदी

पण्डित दीनानाथ मदन
बी. ए. ऐकौंटेन्ट।

※ अनुक्रमणिका ※

* इति *



तत्—सत्

॥ अथ ब्रह्म दर्शन प्रारम्भः ॥

यस्य बोधोदये तावत् । स्वप्नवद् भवतिभ्रमः ॥
तस्मैसुखैक रूपाय । नमः शांतायतेजसे ॥१॥

॥ अनुभवी स्वप्न ॥

चैतन्य स्वप्न द्रष्टा आश्चर्यवत् देखता है, कि केदारखण्ड बद्रिकाश्रम में वसुधारा से आगे सतपद का स्थान क्षीरसमुद्रवत् है, जहां शेष नाग की शय्या अर्थात् सत्य अविनाशी

का अधिष्ठान है और प्रकृति लक्ष्मी का रूप धारण करके अर्थात् सर्व जगत् की उत्पत्ति का सूक्ष्म बीज अपने अन्तर लिये हुए स्थितहै, वहां ब्रह्मयज्ञ का आरम्भ होरहा है ।

उस ब्रह्मयज्ञ में सबसे प्रथम ब्रह्माजी बुद्धि का रूप धारण करके आये, उनके पीछे श्री शिवजी भी पहुंचे और श्रीविष्णु देव भी वहीं प्रगट हुए-इसके उपरान्त हिरण्यगर्भ, इन्द्र, प्रजापति, सूर्य्य, चन्द्रमा, मरुत, वरुण, अश्विनीकुमार और पञ्च महाभूत और त्रिगुणकाल यह सब आये, इनके पीछे वसिष्ट महर्षि, वामदेव, पराशर मुनि, अवधूत दत्तात्रेय, जडभरत, शुकदेव मुनि, अष्टावक्र, राजा जनक, याज्ञवल्क्य, सनकादिक, नारद, अङ्गिरा, भरद्वाज, मरीचि, भृगु, जमदग्न्य, पुलह, पुलस्त, अत्रि, शुक्र, बृहस्पति, प्रह्लाद, ध्रुव, काकभुसण्ड वाल्मीक, शङ्कराचार्य्य, सब आनकर विराजमान हुए; इसी काल में गौत्तम, जैमिनि, कणाद, पतञ्जली, कपिल मुनि, और श्रीवेदव्यास षट्शास्त्रों के अधिष्ठाता आनकर उपस्थित हुवे; तब ब्रह्मदर्शन प्राप्ति के निमित्त सबने स्वाध्याय यज्ञके आरम्भ का सङ्कल्प किया; और उसकी सामग्री अर्थात् प्रसिद्ध ग्रन्थों के मंगाने का उद्यम किया, और चार वेद--ऋग, यजुः, साम, और अथर्वण, मन्त्र भाग--ब्राह्मणभाग, उपनिषद, छः शास्त्र-न्याय, मीमांसा, वैशेषिक, पातञ्जल, साङ्ख्य और वेदांत, सोलह स्मृति अट्ठारह पुराण-उपपुराण ब्रह्मसूत्र, वेदान्तसार, योग वसिष्ठ, महाभारत, भगवद्गीता, अष्टावक्र और अवधूतगीता

उत्तरगीता, रामायण, सांगीत, और ज्योतिष विद्या आदि एकत्र किये गये।

स्मृति १६	पुराण १८	उपपुराण १८
१ वसिष्ठ।	१ विष्णु।	१ नरसिंह।
२ पराशर।	२ नारद।	२ नन्दी।
३ मरीचि।	३ भागवत।	३ शिव।
४ कश्यप।	४ गरुड़।	४ काली।
५ भारद्वाज।	५ पद्म।	५ सनतकुमार।
६ व्यास।	६ वराह।	६ धर्म।
७ कात्यायन।	७ मार्कण्डेय।	७ शान्त।
८ दक्ष।	८ ब्रह्माण्ड।	८ नारद।
९ याज्ञवल्क्य।	९ भविष्यत्।	९ कपिल।
१० विष्णु।	१० ब्रह्म।	१० वरुण।
११ अत्रि।	११ वामन।	११ भार्गव।
१२ मनुः	१२ ब्रह्मवैवर्त।	१२ दुर्वासा।
१३ सिंह।	१३ शिव।	१३ सूर्य्य।
१४ बृहस्पति।	१४ लिंग।	१४ पराशर।
१५ ऊष्णी।	१५ स्कन्द।	१५ वसिष्ठ।
१६ गौत्तम।	१६ कूर्म।	१६ ब्रह्माण्ड।
	१७ अग्नि।	१७ मरीचि।
	१८ मत्स्य।	१८ महेश्वर।

अब स्वाध्याय यज्ञ के आरम्भ में ऋग्वेद और अथर्वण

वेद ब्रह्माजी के दाहीं ओर, और यजुर्वेद और सामवेद बाहीं ओर रक्खे गये; उपनिषद अनेक ऋषियों को बांट दिये गये और षटशास्त्र उनके कर्ताओं को देदिये गये; और जो लोग इस उत्सव के देखने को आये थे स्मृतियां और पुराण एक एक करके किसी २ के समीप रख दिये गये। इस यज्ञ के अनुष्ठान से पहले कबीरदासजी, गुरु नानक जी, दादूजी, चरणदास जी, सुन्दरदासजी, बनवारीदास जी, गिरधरकविः, राजा भर्तरीजी, सूरदास जी, गुरु गोरखनाथ, मछन्दरनाथ मीराँ बाई, निर्विकल्पदेव, स्वामी विशुद्धानन्द काली कमलीवाले, और एक अनाम अवधूत आनकर उपस्थित हुए, और स्वाध्याय यज्ञ में प्रवृत्त हुए—

प्रथम गौत्तम ऋषि न्यायकर्ता बोले—इस जगत् का कर्ता ईश्वर है, और परमाणु से जगत् उत्पन्न हुआ और सत्य है, और जीव अनेक हैं और यह तीनों अनादि हैं।

जैमिनी पूर्वमीमांसा के कर्ता बोले—जो कर्ता मानते हो तो कर्म स्वतन्त्र हुआ; कर्म से ईश्वर होताहै कर्म से जगत् और जीव बनता है, जो कर्ता है सो होताहै बिना पुरुषार्थ कोई वस्तु सिद्ध नहीं होती।

कणाद वैशेषिक के कर्ता बोले—ईश्वर और कर्म दोनों काल के आधीन हैं; जब कालचक्र चलता है तब देश के अधिष्ठान में वस्तुके भाव होने पर ईश्वर जीव जगत् और कर्ता कर्म कार्य्य प्रतीत होतेहैं जो कालचक्र न होवे तो इनका अधिष्ठान कहाँ बन सकता है और कर्म से फल की प्राप्ति

समय के अनुकूलता बिना नहीं होसकती ।

पतञ्जली मुनि योग शास्त्र के कर्ता बोले-योग के सिवा और कोई वस्तु सिद्ध नहीं है, योग के अर्थ मिलाप के हैं, मिलाप से जगत् की उत्पत्ति हुई है और मिलाप में ही जगत् की स्थिति है और जिस काल में अनुभव का ज्ञान से मेल होता है तब सारा जगत् लय होजाता है; योग के अनन्तर जो कुछ है सब कथन मात्र है ।

कपिल सांख्य के कर्ता बोले-विचार बिना योग और अयोग कब समझ में आसक्ता है इसलिये सबसे उत्तम विचार है; विचारसे ही सर्व वस्तुओं का ज्ञान होताहै और योग भी विचार द्वारा ही मनुष्य को सिद्ध होताहै, विचार रूपी नेत्र बिना सर्व जगत् अंधियारा अर्थात् अविद्या का लक्ष प्रतीत होता है, विचार नेत्रों के खुलने से मनुष्य तत्ववित् होजाताहै और उसको सत् असत् का यथार्थ ज्ञान प्राप्त होताहै ।

श्री वेदव्यास जी वेदान्त और उत्तरमीमांसा के कर्ता कहने लगे--हे मित्रों ? विचार पूर्वक देखो, विचार किस अधिष्ठान में होताहै; जो चैतन्य प्रकाशक न होवे तो विचार को प्रेरणा कहाँ से आवे; इस कारण चैतन्य सबका साक्षी है और सब उसीके आधार पर ठहरे हैं. चैतन्य को अद्वैत जानना ही ब्रह्मज्ञान है; 'वेदान्त' संज्ञा में दो शब्द 'वेद' और 'अन्त' मिले हुए हैं वेद का अर्थ जानना है और अन्त का अभिप्राय अवधि अथवा लय है अर्थात जिस अवस्था में

जानना भी लय होजावे वह वेदान्त का लक्ष है. जब मन और बुद्धि समाधिस्थ होजाते हैं और उन में फुरना नहीं रहती तब ज्ञान का स्वरूप भासता है; वेदान्त के अर्थ वाद विवाद के नहीं हैं कि मन और बुद्धि के लय होजाने पर बाणी किस प्रकार निकल सक्ती है।

जब छयों शास्त्रों के कर्ता अपने २ मतों का निरूपण करचुके तब कुवेर देवता इस प्रकार कथन करने लगे कि मैं पृथिवी मण्डल का देवता और स्वामी हूं और मेरी शक्ति के प्रभाव से पृथिवी के परमाणु मिलकर गोलाकार मूर्ति बनते हैं. मेरी उसी शक्ति का नाम कुवेर समझना चाहिये अर्थात् मेरा कोई पञ्चभौतिक आकार नहीं है मैं सारे पृथिवी मण्डल को अपने अन्तर लिये हुए हूँ और पृथिवी के परमाणु सूक्ष्म होनेके कारण मनुष्य को दिखाई नहीं देते परन्तु जो किसी घर की दीवार में सूर्य्य के सन्मुख छिद्र होवे तो उस पर दृष्टि के लगाने से छोटे २ परमाणु प्रतीत होते हैं; ऐसे परमाणु आकाश के अन्तर जहाँ मेरा प्रवेश है पृथिवी मण्डल के चारों ओर भरे हुए हैं।

उसी समय पृथिवी आकर सन्मुख खड़ी होगई और कहने लगी-मैं तो ब्रह्म के आधार पर ठहरी हूँ और गंधमात्रा मेरा सूक्ष्म रूपहै। इस बचन के कहते ही पृथिवी का शान्त रूप सत् अधिष्ठान निश्चय गुण और स्थिति कार्य्य प्रत्यक्ष प्रतीत होने लगा।

अब वरुण देवता ने चन्द्रमा का रूप धारण करके सभा के मध्य वर्णन किया—पृथिवी मेरे आधार पर ठहरी है और मेरे चक्र में पृथिवी और सोम दोनों मण्डल मिश्रित हैं परन्तु मेरा विशेष भाव सोम मण्डल में है और मैं पृथिवी मण्डल में सामान्यरूप से स्थित हूँ पृथिवी में शान्ति मेरा गुण है रसमात्रा मेरा सूक्ष्म रूपहै और शीतलता मेरा कार्य है ।

इतने में सूर्य्य देवता ने अग्नि का रूप धारण करके कहा-कि पृथिवी और चन्द्रमा दोनों मेरे सहारे पर खड़े हैं और मैं उनको घेरे हुए हूँ पृथिवी में सत् की भावना और चन्द्रमा में प्रकाश मुझ से है; नेत्र बिना नतो प्रकाश की प्रतीति होती है और न किसी वस्तु का सत् होना निश्चय होता है रूप मात्रा मेरा सूक्ष्म भावहै और मैं त्रिलोकी का स्वामी होकर प्रजापति कहलाता हूँ. मेरा कार्य ऊष्णता है जिस करके पृथिवी वरुण देवता की शक्ति के प्रभाव से जलवत् बहजाने से बचजाती है जठराग्नि, बाणी और नेत्र मेरे अधिष्ठान हैं जिनके द्वारा जगत् के सर्व कार्य्य सिद्ध होते हैं ।

इतने में मरुत देवता प्राण पवन का रूप धरके बोले--त्रिलोकी मेरी शक्ति से ठहरी है और मैं पृथिवी, चन्द्रमा और सूर्य का साक्षी हूँ; मेरी प्रेरणा बिना यह तीनों जड़ रूप हैं परन्तु इनकी मूर्ति मेरे बलसे चर रूप होजाती है; स्पर्श मेरा कार्य है और निश्चय मेरा रूप है ।

रुद्र देवता ने सभा के सन्मुख होकर कहा--कि मेरी मूर्ति

के समझने के लिये पञ्चमुखी महादेव का आकार बनाया जाताहै परन्तु मैं पञ्चमहाभूत का साक्षी हूँ और तमोगुणी रूप रखता हूँ; मेरा कार्य स्थिति और गुण शब्द है, आकाश मेरा स्थान है और प्राण अपान का वेग मेरी गती है।

इन्द्र देवता प्राण शक्ति द्वारा चिदाकाश से बोले--जब मैं मन को प्रेरणा करता हूँ तब अविद्या रूप संसार की उत्पत्ति होती है और जब मन की फुरना रोकलेता हूँ तत्काल ही जगत् मुझमें लय होजाता है अर्थात् यह संसार मेरे संकल्प से उत्पन्न होता है मेरी अविद्या शक्ति में स्थित है और मेरे संकल्प के निरोध से लय होजाता है सार वस्तु नहीं है. स्वप्नमात्र, मृगतृष्णा के जल के समान, इन्द्र जालवत, और रज्जू में सर्प की भ्रान्ति के तुल्य है. चित्त का व्यापार जिसका श्रुति (सुरत) नाम है मेरे बल से बहिर्मुख होके फैली है।

बासुदेवजी बुद्धि का रूप धारण कर के बोले-हे प्यारों! तुम सब मेरे स्वरूप से भिन्न नहीं हो और मेरा नाम ही दिखाता है कि मैं सर्वत्र व्यापक हूँ तुम सब के रूप और ऐश्वर्य को मेरा ज्ञान प्रतीत कराहा है अर्थात् जो समझ का लक्ष न होवे तो तुम्हारे छयों आकार कैसे भिन्न २ दिखलाई दें; मैं सामान्य और विशेष रूप से सम्पूर्ण जगत् की मूर्ति बनाहूँ और छः आवरणपटों में ऐसा छुपा हूँ कि उनके निवासी मेरी महिमा को नहीं देखते और यह आवरणपट

मेरा व्यक्तरूप हैं जिन्हें ब्रह्मचक्र, सप्तव्याहृति अथवा विराट् कहते हैं; मेरा एक और रूप अव्यक्त है जहाँ बुद्धि की भी गम नहीं परन्तु उस का निश्चय अनुभव मात्र करसकता है; और कोई युक्ति नहीं है; आठवें आवरण को कारण अहङ्कार, हिरण्यगर्भ अथवा मूलप्रकृति भी कहते हैं जिस में सर्व जगत् का ज्ञानरूपी बीज रहता है और जहाँ से मनुष्य देहादि में इच्छा की उत्पत्ति होती है; मेरा स्थान चौरासी के चक्रसे परे है और सूक्ष्म होनेके कारण सातों लोकों का प्रकाशक होके भी मन और इन्द्रियों का विषय नहीं बनता, इसका वर्णन पुरुषविभू शुद्धसनातनादि विशेषणों से किया जाताहै परन्तु इन शब्दों के सुनने से अनुभव और विचार विना लक्षार्थ का ज्ञान नहीं होता अर्थात् ऊपर लिखे हुए शब्द मेरे स्वरूप को सिद्ध नहीं करसक्ते; परन्तु मेरा स्वरूप इन सबके अर्थ को सम्यक् दर्साता है।

मेरा एक और अत्युत्तम स्थान व्यक्त और अव्यक्त से ऊँचा है जो परमपद कहा गयाहै; और अधियज्ञ पुरुषोत्तमादि वाक्यों से जिसका बोध कराया गयाहै और महा पुरुषों ने निरञ्जन, निराकार, निर्विकार, निराधार, निर्लेप, निर्गम, निष्क्रियादि शब्दों से जिस का लक्ष बताया है; अञ्जन आकार विकारादि शब्द मायारूप के प्रतिपादक हैं और निर् उपसर्ग उसका बाधक, अभिप्राय यह है कि निर् शब्द चैतन्य का वाचक है और अञ्जनादि विशेषण जडरूपी माया के भाव को दिखाते हैं; वास्तव में ज्ञानचक्षुः से यह

आश्चर्य्यवत् स्थान ऐसा प्रतीत होताहै जैसे स्फटिक मणि किसी रङ्ग के समीप होने पर भी अपनी स्वच्छता में विकार नहीं आने देता यहाँतक ज्ञान की गम है; ज्ञान से आगे जो विज्ञान का अधिष्ठान है उसको निर्वेद और निर्वाणपद कहते हैं वहाँपर स्वयं प्रकाश और स्वयं रूप रहता है और अपने ज्ञान से आपही इसको समझ सकताहै दूसरे के समझाने अथवा बताने से समझ में नहीं आसकता इस कारण महात्माओं ने इस अवस्था का वर्णन अद्वैत, अखण्ड, अविनाशी, अगम अपारादि वाक्यों से किया है ।

पञ्चमहाभूतों में से आकाश बोला-कि मेरी शक्ति पवन से मिलकर बादलों में घरघराहट का शब्द देती है और सूर्य की किरण को लेकर बिजली बनजाती है और चन्द्र ज्योति द्वारा ओला उत्पन्न करती है और पृथिवी का अंश लेकर जलबिन्दु बादलों से बरसाती है जिनसे पृथिवी का पोषण होताहै और अनेक प्रकार की औषधियों की उत्पत्ति होती है जलबिन्दु में पृथिवी के परमाणु सूक्ष्मरूप होके रहते हैं और नेत्रों से दिखाई नहीं देते क्योंकि जो किसी कालतक जल को शीशे के बर्तन में रक्खें तो मट्टी की गाध बैठ जाती है; चर्मदृष्टि मेरे रूप को शून्य देखती है परन्तु ज्ञान चक्षुः उसको अशून्य और शक्तियों से भरा हुवा पाताहै अर्थात् पाँचों मण्डलों में पञ्चभौतिक शक्तियाँ सामान्य और विशेष होके भरी हैं, सुई के नाके मात्र स्थान भी शून्य नहीं है; परमात्मा की शक्ति मेरे द्वारा पञ्चमहाभूतों में सम्पूर्ण प्रवेश करती है

और मनुष्य बुद्धि का बेग मेरे अधिष्ठान से आगे नहीं जाता।

पवन ने कहा जो जलविन्दु पृथवी में पहुँचकर वीर्य का रूप धारण करता है उसको मैं चर शक्ति देता हूँ जिस से अंकुर निकलता है, बिना मेरी सहायता के वीर्य पृथिवी के बाहर नहीं आसक्ता।

अग्नि ने कहा—जो मैं वीर्य को अपनी रूपशक्ति नदूं तो अंकुर ही कैसे बने।

जल ने कहा—यदि मैं अपनी रस शक्ति द्वारा वीर्य को कोमल न बनाऊँ और पुष्ट न करूं तो उस में रूप और चर शक्ति का कार्य कैसे सिद्ध होवे; उत्पत्ति के प्रकरण में मेरी शक्ति सबसे बलवान है।

पृथिवी ने कहा—जबतक मैं इन सर्व शक्तियों को अपने गर्भ में धारण न करूँ और इन के स्वभाव से वीर्य को पुष्ट न करूँ तो उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती; इस कारण उत्पत्ति के लिये मेराही संस्कार सबसे अधिक है।

प्रथम कार्य मेरा नाना प्रकार के परमाणुओं को अपने गर्भस्थान में इकट्ठा करके "भूतानि" अर्थात् धातुवों और अमूल्य रत्नों को उत्पन्न करना है, जिनमें मेरी शक्ति विशेष है और रस, रूप, स्पर्श, और शब्द यह चार शक्तियाँ सामान्य होती हैं और यह सब धातु जड़ समान हैं।

दूसरी सृष्टि अन्नादि अर्थात् औषधियाँ हैं जिन में मेरी

और रसकी शक्ति दोनों विशेष होती हैं; रूप, स्पर्श और शब्द शक्ति सामान्य होती है. यहाँतक पञ्चभौतिक शक्ति का विशेष भाव और चैतन्य शक्ति का सामान्य भाव है ।

तृतीय जीव जन्तु अर्थात् प्राणिवर्ग की उत्पत्ति के प्रकरण में मेरा आश्चर्यवत् कार्य है कि ऊपर लिखी हुई दोनों सृष्टियों का वीर्य तो मैं अपने स्थूल शरीर में धारण करती हूँ और तीसरी सृष्टि का वीर्य मेरी सूक्ष्म योनि में ठहरताहै; जहाँ २ चैतन्य और जड़ का संयोग होताहै वहाँ २ मेरा सूक्ष्म देह समझना चाहिये कि चैतन्य प्रधान होताहै और जड़ता गुप्त रहती है; इस प्रकार की सृष्टि में पञ्चभौतिक शक्तियाँ तो वैसी ही होती हैं जैसे औरों में परन्तु इस में मन और बुद्धि अधिक होते हैं इसलिये यह सृष्टि दोनों से उत्तम मानी जाती है और इसके अन्तर मन और बुद्धि के कहीं सामान्य और कहीं विशेष होने के कारण चार प्रकार के जन्तु हैं, एक तो स्वेदज हैं जिनकी उत्पत्ति आकाश और मेरी सन्धि के स्थान में पञ्चभौतिक शक्तियों की ग्रन्थि पढ़ने से होती है जिस ग्रन्थि में चैतन्य के व्यापक होने से चैतन्यता आजाती है परन्तु इन जन्तुवों में मन और बुद्धि का भाग थोड़ा होताहै; मच्छर, मक्खी, बीरबहोटी, बिच्छू आदि इस सृष्टि में गिने जाते हैं; दूसरी सृष्टि का नाम उद्भिज है जो मैथुनी होती है और जिनकी आयु पहले प्रकार के जन्तुवों से अधिक मानी गई है; सर्पादि जन्तु इस योनि में हैं; तीसरे प्रकार की योनि को अण्डज कहते हैं और सर्व पक्षी इसके अन्तर्गत हैं जो

पवन और अग्नि की शक्तियों की अधिकता से उड़ते हैं।

चौथी प्रकार की योनि जरायुज कहलाती है, जिसमें दो भांति के जन्तु हैं एक तो पशु हैं जिन के रूप और कार्य में गुण विभाग के अनुसार परस्पर भेद है जैसे गाय, बकरी, हिरन, घोड़ा, ऊँट, सिंहादि; दूसरे मनुष्य हैं जिन का शरीर और पशुवों की भांति पञ्चभूत का होताहै परन्तु अन्तःकरण में मन और बुद्धि की विशेषता रहती है और अहङ्कार बलवान होताहै; इस प्रकार के जन्म को सब से उत्तम और श्रेष्ठ मानाहै कि इसी में अनुभव ज्ञान और विज्ञान की प्राप्ति होसकती है और पुरुषार्थ द्वारा वैराग्य की सहायता से ब्रह्मदर्शन मिलता है।

जब पृथिवी अपना व्याख्यान समाप्त कर चुकी; तब त्रिगुणकाल उठकर सभा के मध्य अपना कर्तव्य सुनाने लगे--

यह सर्व जगत् मेरे चक्र में बंधा हुआ है और जो मैं अपने चक्र का फिराना बन्द करदूं तो उस का सारा खेल मिटजावे; जगत् की उत्पत्ति और लय का हेतु मैं ही हूं; मुझसे प्रवल कोई नहीं कि सर्व वस्तुओं के संहार होने पर भी मैं साक्षीभाव से बना रहता हूँ, जैसे आकाश में चारों महाभूत विचरते हैं और उसको मलिन नहीं करते इसी प्रकार सर्व लोक मेरे अन्तर चक्र खाते हैं और मैं नित्य निर्लेप रहता हूँ; मेरा स्वरूप बुद्धि अनुभव और ज्ञान से तीन प्रकार का दीखता है, बुद्धि जिस का पञ्चमात्रा शब्द

स्पर्शादि से सम्बन्धहे मेरे स्वरूप को चलायमान अर्थात् भूत भविष्यत और वर्तमान कर के देखती है कारण यह है कि पञ्चमात्रा चलायमान हैं और बुद्धि का उन से सम्बन्ध है इसलिये वह मेरे स्वरूप को भी वैसाही समझती है पृथिवी के एक चक्र से जो वह अपने धुरे पर करती है एक दिन रात का उन्मान होताहै और इतने समय के विभाग करने से आठ पहर, सांठ घड़ी, तीसं मुहूर्तादि की कल्पना की जाती है और अधिक गुणा करने से सप्ताह, पक्ष, मास, वर्ष, युगादि का अध्यास होता है; वास्तव में पृथिवी का ऐसा चक्र नित्य चलायमान है जिस से पृथिवी के निवासियों को अपने २ स्थान में प्रातः, मध्यान्ह, सायंकाल और रात्रि की प्रतीति होती है परन्तु जिस समय भूगोल के किसी अर्द्धभाग में दिन होता है तो दूसरे अर्द्धभाग में अवश्य रात्रि होती है; यदि बुद्धि द्वारा उस स्थान का विचार किया जावे जो पृथिवी के चक्र से बाहर और सूर्य के सदैव सन्मुख है तो दिन रात का अभाव होजाने से भूत और भविष्यत् की दृष्टि का अभाव होताहै और वर्तमान काल का नित्य होना सिद्ध होताहै, यह प्रत्यक्ष प्रमाण भी है कि भूतकाल वर्तमान रूप होकर व्यतीत हुआहै और भविष्यत् काल में भी वर्तमान की प्रतीति होगी।

अनुभव से विचारो तो वर्तमान कालमें प्रातः, मध्यान्ह, सायं, रात्रि आदि सारे समय निश्चल रूप से खड़े रहते हैं अर्थात् जिस दिशा में पृथिवी अपने चक्रको करती हुई सूर्यके

सन्मुख आती है और उसकी किरणों को लेना आरम्भ करती है वहाँ प्रातःकाल सदा बिराजमान है इसी प्रकार मध्यान्ह सायं और अन्य समयों की अवस्था समझनी चाहिये; अनुभव वर्तमान काल को सिद्ध करता है भूत और भविष्यत बुद्धि की कल्पना है; इस महाकाल के स्वरूप को अनुभव लक्ष कराता है।

ज्ञानदृष्टि वर्तमान काल की साक्षी होकर मुझे अकाल रूप देखती है और यह निश्चय करती है कि पृथिवी, चन्द्रमा और सूर्यमण्डल तक मेरा कालचक्र है, सूर्यलोक से ऊपर अर्थात् पवन आकाश और मनके मण्डलों में मैं महाकाल रूप से स्थित हूँ इन दोनों से ऊँचे बुद्धि अहङ्कार और चैतन्य के अधिष्ठानों में मेरा अकाल रूप है; तात्पर्य यह है कि मैं तो एकही हूँ परन्तु बुद्धि अनुभव और ज्ञान दृष्टि के अनुसार काल महाकाल और अकाल रूप होकर प्रतीत होता हूँ; बुद्धि वर्तमान से भूतकाल की ओर जाती है अनुभव भूत और भविष्यत काल दोनों का द्रष्टा होके वर्तमान में स्थित रहता है; ज्ञान की अवस्था में तीनों काल समरूप होजाते हैं और स्फुरति के न होनेके कारण जगत् का आदि और अन्त सिद्ध नहीं होता और मेरा स्वरूप सबका प्रकाशक और सबसे अतीत भासता है; तब महर्षियों, अबधूतों, परमहंसों और महात्माओं ने उपनिषदों को विचार कर उस समागम में यह वचन कहे कि—

वेद की तीन मूर्तियाँ दृश्यमान होती हैं; एक तो लौकिक

अथवा शब्द वेद है जो अक्षर और बाणी के सम्बन्ध से प्रगट होताहै और जिसके चार नाम होगये हैं इन चारों को सर्वज्ञ बुद्धि ने जो ब्रह्माजी का स्वरूप है अनेक महात्माओं और ऋषियों के अन्तःकरण में प्रवेश करके अनुभव अनुसार बाणी द्वारा मन्त्र और छन्द के रूप में प्रगट किया है, लौकिक वेद को श्रोत्र और नेत्रों के द्वारा बुद्धि ग्रहण करना चाहती है परन्तु उसके अर्थ को यथावत नहीं पाती ।

दूसरा वेद अनुभवी रूप रखता है और चैतन्यता का कोश है जिससे बुद्धि मन और पञ्च इन्द्रियाँ और पञ्चगोचर प्रकाशित होते हैं और जिसमें से कुछ २ बाणी द्वारा अपने कोश से बाहर निकल आता है; इस वेद का अधिष्ठान हिरण्यगर्भ में है अक्षर और बाणी इसके स्वरूप को यथावत नहीं जतासक्ते परन्तु इसका पता देते हैं जैसे धुवें से अग्नि का होना निश्चय होताहै इसी प्रकार लौकिक वेद से अनुभवी वेद का होना प्रसिद्ध होताहै ।

तीसरे वेद का रूप समुद्रवत् है जिसका पता अगोचर, अपार, अखण्ड, अनन्त, अनादि शब्दों से दिया गया है और जो कारण त्रिपुटि से ऊँचा है; उसमें और केवल ब्रह्म में कुछ भेद नहीं है दोनों शब्द एकही लक्ष को जताते हैं, जिन की बुद्धि पञ्चभूत से मिश्रित है वह इसी लौकिक वेद को अनादि कहते हैं परन्तु वेद के यथार्थ स्वरूप का अनुभव नहीं करसक्ते; जो अनुभव के अभ्यासी पुरुष हैं वह चैतन्यमय कोश को अनादि कहते हैं और इस का नाम अशब्द

वेद है; वास्तव में अनादि वेद वह है जो ज्ञान दृष्टि से सिद्ध होता है अर्थात् वेद और ज्ञान का एक ही स्वरूप है और ज्ञान तथा ईश्वर का एक ही लक्षहै, यह तीनों वेद के स्वरूप ब्रह्म आकृतियों के अनुसार बने हैं अर्थात् वेद अकाल रूप है, देश काल और वस्तु के सम्बन्ध से तीन प्रकार का प्रतीत होताहै और श्रुति कहा जाताहै ।

ऋग्वेद ब्रह्माजी के दाहीं ओर से उठकर कहने लगे-कि मैं सबसे पहिला और प्राचीन वेद हूं और मेरा रूप "ओं" कार है, इस की साधना विधियुक्त करने से मुमुक्षु ब्रह्मवेत्ता होजाता है; प्रज्ञान आनन्द ब्रह्म महावाक्य मेरा स्वरूप है और इन शब्दों के आशय को सब ऋचायें और मन्त्र सिद्ध कराते हैं ।

तब यजुर्वेद ब्रह्माजी के बाईं ओर से उठकर बोले कि मैं दूसरा वेद तो कहलाता हूं परन्तु मेरा रूप और स्वरूप भी प्राचीन है कि मैं पहिले से हिरण्यगर्भ में बास कररहा था, ऋग्वेद के प्रगट होने के पीछे अपरोक्ष हुआहूं, मेरा रूप भी "ओं" कार है और मैं युक्तिसम्पन्न हूं जो ऋग्वेद में विस्तार पूर्वक नहीं है, मेरा स्वरूप अहंब्रह्मअस्मि महावाक्य है इन शब्दों के आश्रय होकर जिज्ञासु पुरुषार्थ से ब्रह्मरूप होजाता है।

इसके उपरान्त सामवेद भी सभा के मध्य में कथन करने लगे--कि मेरा रूपभी "ओं" कारही है और तत्वमसि महावाक्य मेरा स्वरूप है, और इस महावाक्य के विचार से

अभ्यासी अल्पज्ञता और सर्वज्ञता दोनों का साक्षी होकर परमानन्द स्वरूप हो जाताहै ।

सबसे पीछे अथर्वण वेद भगवान् सभा के बीच आनकर वर्णन करनेलगे--कि मेरा रूप सोऽहं (हंस मन्त्र) और मेरा स्वरूप अयं आत्मा ब्रह्म महावाक्य है; पहले तीनों महावाक्यों की साधना करनेवाले कीटिमार्ग कर्मयोग अथवा प्राणायाम द्वारा ओं के ध्वनि की सहायता से ब्रह्म के ज्ञात रूप अधिष्ठान तक पहुँचते हैं अर्थात् रसबासना के बने रहने के कारण मूल प्रकृति के चक्र से बाहर नहीं जाते और साक्षीरूप होके ब्रह्म और जगत् के द्रष्टा बने रहते हैं, मेरे महावाक्य का रूप हंस मन्त्र है जिसकी यह अद्भुत महिमा है कि वह स्वतः सर्व प्राणियों में अपना शब्द उच्चारण कररहा है और उसके लिये किसी परिश्रम की अपेक्षा नहीं है इसी कारण हंस मन्त्र को अजपा जाप भी कहते हैं, बाहर से अन्दर को श्वास खेंचते समय सकार का शब्द प्रतीत होताहै और श्वास के अन्दर से बाहर आने के समय हकार की ध्वनि उत्पन्न होतीहै, इन दोनों स्वाभाविक शब्दों ने ओंकार शब्द को अपने अन्तर लय कर लिया है अर्थात् 'सः' के अन्तर अकार और उकार गुप्त हैं और अहं शब्द में मकार अन्तर गत है अर्द्धमात्रा की ध्वनि तुर्यातीत अवस्था के आनन्द का लक्ष दिखाती है, सोऽहं शब्द के अभ्यास को ज्ञानयोग अथवा बिहंगम मार्ग कहते हैं, बिहंगम के अर्थ पक्षी के हैं और पक्षी की उड़ान आकाश में शीघ्र होताहै, कीटि पृथिवी पर मन्द गति से

चलती है और अपने मार्ग को बहुत काल में पूरा करती है, श्रुति के सोऽहं शब्द से एकता होने पर जीव हंस का रूप धारण करके तुरंत अपने लोक को उड़जाता है और श्रुति चित्त का कार्य है जिसे ब्रह्मा का हंस, विष्णु का गरुड़, शिव का नादिया और सूर्य का उच्चैश्रवा नामी घोड़ा बताया है।

अब ऋषियों ने वेदों से तर्क किया--कि ऊपर के वर्णन से तो आपका मन्त्र भाग मांत्र सिद्ध होताहै क्या उपनिषद ब्राह्मण भाग का सार होके आपका रूप नहीं है, वेदों ने उत्तर दिया—कि वेद और उपनिषद में मूर्ख द्वेष मानते हैं, वेद के मन्त्र वीर्य रूप हैं और उपनिषद वृक्ष के समान, वीर्य की पहिचान वृक्ष के देखे बिना नहीं हो सकती, वीर्य से वृक्ष और वृक्ष से वीर्य उत्पन्न होताहै और यह चक्र नित्य चला जाता है, नाम और रूपका माया कृत सम्बन्ध है कि बिना नाम सुने रूपवाले की प्राप्ति नहीं होती और रूप के देखे बिना नाम वाले का निश्चय नहीं होता, इसी प्रकार श्रुति को शब्द से मिलाकर आत्मस्वरूप का निश्चय होताहै और ब्राह्मण भाग बिना वेद के मन्त्र भाग का यथार्थ ज्ञान मनुष्य को नहीं हो सकता और उपनिषद वेद के अंग हैं।

इसके उपरान्त ब्रह्म विद्यारूपी भगवद्गीता सभा में आकर बोली--कि मैं तो सब वेद और उपनिषदों और शास्त्रोंका सार हूं-श्री वेदव्यास जी ने अपनी ज्ञान दृष्टि से महाभारत ग्रन्थ के अन्तर भीष्म पर्व में कृष्ण भगवान् के आशय के अनुसार

मुझे व्यक्त कियाहै, मैं सर्व वेद और विद्याओं का वीर्य अंकुर रूप हूं, मुझे स्मृति क्यों कहते हैं ? जिस समय में मेरा रूप व्यक्त हुआ उस काल तक तीन वेद ऋग्, यजुः और साम प्रत्यक्ष हुए थे, चौथा अथर्वण वेद हिरण्यगर्भ में बास कर रहा था और यह उसके पीछे अथर्वा ऋषि के अनुभव द्वारा अपरोक्ष हुआ ।

ऋग् वेद के अनुसार तो पांचवीं अध्याय के २७ और २८ मन्त्र में साधना दिखाई गईहै, और यजुर्वेद के अनुसार छटी अध्याय के ११ और १२ मन्त्रमें सिद्धान्त दिखाया गया है, और साम वेद की आज्ञा अनुकूल आठवीं अध्याय के ८ वें मन्त्र से १२ वें मन्त्र तक वर्णन हुवाहै, अथर्वण वेद का अभिप्राय नवीं अध्याय में वीर्य रूप दिखाया गयाहै; मेरे इस ग्रन्थ रूपी देह में ऋग् से ज्ञान का अंग, और यजुः से कर्म और उपासना का अंश, और साम से वैराग्य और भक्ति की साधना एकत्र किये गये हैं, अथर्वण वेद का विज्ञान रूप आनन्द सर्वत्र सामान्य रूप से भरा है परन्तु नवीं अध्याय में उसकी विशेषता है; योंतो चारों वेदोंमें सब अंग सामान्य विशेष होकर प्रतीत होतेहैं; वेद भगवान् ने कहा-कि तुम्हारी महिमा को मनुष्य पाठ मात्र से नहीं समझ सक्ता परन्तु वैराग्य साधन और विचार की युक्ति से गूढ़ से गूढ़ लक्षार्थ को निश्चय कर लेता है और फिर उसे कुछ करना नहीं रहता अर्थात् कृतकृत्य होजाता है फिर ऐसे पुरुष को वेदों के पढ़ने की बाँछा नहीं रहती और वह स्वतः निर्वेद रूप हो

ज़ाता है; अल्प बुद्धिवाले जो अपनी सारी आयु पाठमात्र में व्यतीत करतेहैं वह तुम्हारे लक्षार्थ को नहीं जानते इसी कारण तुम्हें स्मृति कहतेहैं; तुमतो वेद रूपी गाय के उपनिषद् रूपी दुग्ध से मक्खन होकर निकली हो।

इसके उपरान्त शास्त्र, स्मृति और पुराण बोले- क्या हम वेद की आज्ञा के अनुसार नहीं हैं; वेद भगवान् ने उत्तर दिया- कि सर्व विद्यायें वेदके ही आश्रय हैं और वेदसे अतिरिक्त नहीं हैं परन्तु अनुभव बाणी जो स्वतः सिद्ध है श्रुति कही जातीहै और जो वर्णन बुद्धि से विचार द्वारा होताहै उसे स्मृति कहते हैं; वेद भगवान् ने पुराणों के सन्मुख होकर कहा- कि तुम्हारा नाम ही तुम्हारे प्राचीन होनेको कहता है, यदि तुम्हारी भाषा तो नवीन और संस्कार की हुईहै परन्तु जिन इतिहासों का तुम वर्णन करते हो वह ऐसे प्राचीन और रूपकमय हैं कि विचार हीन बुद्धि उनके गूढ़ अर्थ को सुलभता से ग्रहण नहीं कर सकती और तुममें दोष लगाती है।

ब्रह्म की आज्ञानुसार वेद का महाभवन रचा गयाहै और पुराणों की बाटिका लगाई गई है जिसके छहों ओर शास्त्र का कोट और स्मृति के गड़गज और उपपुराणों की बुर्जियां बनी हुई हैं और अनेक विद्यायें उस कोट की दीवारों के कंगूरे हैं और वह मन रूपी खाई से घिरा हुआ है जिससे निकल कर अन्दर पहुंचना होताहै वहां चैतन्यदेव आनन्द

पूर्वक निवास और आस्तिक्य धर्म की पालना करते हैं और ऊपर कही हुई सामग्रियों और सेना के बल से अज्ञान रूपी शत्रु को समीप नहीं आनेदेता, अश्रद्धावान् और आलसी पुरुष अश्रद्धा और आलस्य के बाणों से घायल होकर खाई में गिरजाते हैं और उठ नहीं सक्ते ।

अब ऋषीश्वरों की पंक्ति में से श्रीयाज्ञवल्क खड़े होकर व्याख्यान देनेलगे- कि अनेक प्रकार की विद्या और अनेक देवताओं की अर्चना ब्रह्म का अङ्ग उपदेश और अङ्ग अर्चना है; ब्रह्म स्वरूप की प्राप्ति के निमित्त एक को सर्वत्र जानकार समाधिस्थ होना ही सिद्ध विद्या है और यही वेद का सत्य उपदेश और आज्ञा है ।

नारद बोले- कि मैंतो विष्णु की भक्ति और आराधना को सिद्ध जानता हूँ और इसीमें आनन्दित रहताहूं; प्रह्लादजी ने भी सम्मति दी और भक्ति का माहात्म्य अधिक बताया ।

बाल्मीकि जी बोले- मैंने महात्माओं के उपदेश द्वारा ज्ञान अवस्था पाकर श्रीरामचन्द्र मर्यादा पुरुषोत्तम के चरित्र का वर्णन कियाहै और उस ग्रन्थ को बाल्मीकीय रामायण कहते हैं, इस अवतार का चरित्र पढ़ने से प्रेम उत्पन्न होताहै और उन के धर्म सम्बन्धी गुणानुबाद को पढ़कर भक्तिद्वारा मनुष्य परमार्थ को प्राप्त होताहै ।

ध्रुवजी ने कहा- कि मैं तप और उपासना के बल से ध्रुव पद को प्राप्त हुआहूँ ।

काकभुशुण्ड बोले-कि मैंने योग के साधन से इतनी दीर्घायु पाई है जिससे मुझे संसार के अनेकवार उत्पत्ति और प्रलय और अनेक अवतार देखने में आए हैं; मेरा स्थूल शरीर तो नष्ट होचुका है परन्तु सूक्ष्म शरीर नाशमान नहीं है जिस कारण मैं संकल्प रूपी वृक्ष पर सदा निवास करताहूं।

सनकादिक बोले-कि हम तो शिवकी अर्चना में ही परमानन्द पाते हैं।

अत्रेय ऋषि बोले-मैं ज्ञान दृष्टि से ही परमात्मा की प्राप्ति को निश्चय जानताहूं और अनेक महात्माओं ने इसी विषय को सिद्ध किया है।

इसके उपरान्त शुकदेव मुनि बोले-कि विज्ञान आनन्द जिसे निर्वाण और निर्वेद पद और विदेह मुक्ति कहते हैं; सब अवस्थाओं से उत्तम और परमानन्द का लक्ष है ऐसी परम हंस गति को बाणी नहीं समझा सकती और जिन जिन महात्माओं का इसमें निवास है वह एक दूसरे को सन्मुख होतेही पहिचान लेतेहैं इसीका नाम ब्रह्मकोटि है, जीव और ईश्वर कोटिवालों को उस ब्रह्मकोटि का परमानन्द प्राप्त नहीं होता जिसमें अल्पज्ञ और सर्वज्ञ उपाधियां नहीं रहतीं और ऐसी अवस्था वाले महात्मा स्वरूप में मग्न रहते हैं।

तब जड़भरत अवधूत बोले-कि मुझे तो अपना शरीर और जगत् प्रतीत नहीं होताहै किन्तु ब्रह्माकार भासता है सो मैं किससे बोलूं और कौन सुने अर्थात् जब अखण्डवृति

में द्वैतभाव सिद्ध नहीं होता तो फिर कोई क्रिया कैसे बने, मैं अपने स्वरूप को आप नमस्कार करता हूँ ।

बामदेव अवधूत बोले-कि जब अपने सिवा कोई नहीं है तो फिर नमस्कार का क्या प्रयोजन है और जब मैं सर्वज्ञ हूँ तो सर्व इन्द्रियों के विषय और सर्व जगत् भी मेरे स्वरूप में है और मुझसे भिन्न नहीं है; कहने और सुनने से चैतन्य दृष्टा का द्वैतभाव दृश्यमान नहीं होता कि वह अपने ही अंगों में आप खेलता है परन्तु यह खेल अनोखा इस कारण कहलाता है कि खिलाड़ी सब में खेल रहाहै और खेलने की वस्तु उसे अपने आधीन नहीं कर सकती; इन्द्रजाल का भाव मिथ्याहै परन्तु इन्द्रजाल का कर्ता सत्यहै ।

तब दत्तात्रेय अवधूत बोले- कि ईश्वर के अनुग्रह से अर्थात् चैतन्यदेव में अपने स्वरूप के जानने की इच्छा होने पर मनुष्य को अद्वैत पद की प्राप्ति होती है जिस के प्रताप से वह जीवन और मरण के भय से छूट जाताहै; कल्याण रूपी और अविनाशी मेरी आत्मा सब में भरी हुई है और आकर रहित है फिर मैं किस की बन्दना करूँ; यह जगत् पञ्चभूत का बना हुआ मृग तृष्णा के जल समान है, मैं किस को नमस्कार करूँ एक आत्मा सब में व्यापक है भेद अभेद कुछ नहीं है और भाव और अभाव भी कहा नहीं जासकता, जो आश्चर्यवत् अवस्था हो उस का किस प्रकार वर्णन हो-सके; वेदान्त का सार ज्ञान का सिद्धान्त और विज्ञान का

रहस्य यहहै कि मेरी आत्मा स्वभाव से ही निराकार और सर्वव्यापी है; तू और मैं देह और जगत् का विभाग कल्पित है, एक शिवस्वरूप है और ऐसा निश्चय करना परमार्थ है।

इतने में अष्टावक्र अवधूत बोले-मेरा निश्चय है कि जगत् में जितना दुःखहै उसका कारण कर्म की प्रवृत्ति है और इसको बिरला ही समझता है और जो महात्माओं के उपदेश द्वारा समझताहै वह उस परमपद को प्राप्त होताहै जहाँ दुःखका लेश नहीं; जिस के हृदय में ऐसी आग भड़की हुईहै कि मैं आत्मा की प्राप्ति के निमित्त यह करूँ और वह करूँ उस के भाग्य में समतारूपी अमृत की वर्षा नहीं है, बुद्धिमान को चाहिये कि सर्व ध्यानों को छोड़कर अपने हृदय में किसी आकार का ध्यान न करे; आत्मा स्वयं मुक्तहै उस में कर्तव्य का होना ही बंध का हेतु है; जब जिज्ञासु अपने आपको अकर्ता और अभोक्ता मानताहै तब चित्त की सारी वृत्तियाँ रुकजाती हैं और समरूप होजाती हैं, आत्मा का अधिष्ठान न दूरहै न पासहै नित्य प्राप्त है और वह कल्पना आयास और उपाधि से रहित है; स्वतन्त्र होने से सुख की प्राप्ति है, स्वतन्त्र होने से ज्ञान उदय होताहै, स्वतन्त्र होने से संकल्प निवृत्त होजाते हैं, और स्वतन्त्र होना ही परमपद है।

राजा जनक ने कहा-हे महात्माओं मैं अवधूत अष्टावक्र जी के सत्सङ्ग और उपदेश द्वारा गृहस्थाश्रम में रहकर और राज्य का कार्य करता हुवा विदेही कहलाता हूँ और सारे साधुजन मुझे ऐसा ही मानते हैं; मैंने कोई साधना योगादि

कर्म नहीं किये हैं परन्तु मैं संसार का व्यवहार करते हुवे भी स्वरूप को देख रहाहूँ ऐसी अवस्था विलक्षण है और अवधूत महापुरुषों की कृपादृष्टि से प्राप्त होती है; जिस समय अवधूत महाराज ने मुझे उपदेश किया उसी समय मुझको प्रतीत हुआ कि मैं अपनी भूल से धोका खाकर आप को बंधा हुआ समझता था अर्थात् उनकी बाणीरूप अग्नि ने मेरे अन्तःकरण में ज्ञान का प्रकाश कर दिया जिस के प्रभाव से मुझे निश्चय होगया कि जो कुछ है सो मैं ही हूँ और मैं वह हूँ जिसे कुछ नहीं कह सकते परन्तु ऐसा ज्ञान शुद्ध हृदय वाले जितेन्द्रिय पुरुष को होताहै; जो लोग विषयों में फसे हुए हैं उनको इसकी प्राप्ति अनेक प्रकार से समझाने पर भी नहीं होती, जितेन्द्रिय होने से वैराग्य उत्पन्न होताहै और वैराग्य होने पर ज्ञान की सिद्धि होती है इसलिये चार आश्रम बनाये गये हैं- पहला ब्रह्मचर्य है जिस में जितेन्द्रिय रहकर विद्या ग्रहण की जाती है, दूसरा गृहस्थ कहा जाता है जिस में इन्द्रियों को वश में रखकर बुद्धि के अनुसार यज्ञार्थ कर्म करना उचितहै तब ईश्वर की आज्ञा से सन्तान की उत्पत्ति होती है, इसी आश्रम में जगत् के सब कार्य बनते हैं और साधु महात्माओं की पालना और सेवा सिद्ध होती है, जो मनुष्य गृहस्थ आश्रम के धर्म को भली प्रकार से बर्तता है उसे विषयानन्द के भोग लेने पर स्वतः वैराग्य उत्पन्न होताहै और वह बानप्रस्थ आश्रम को सुख का देने वाला जानकर उसी में प्रवृत्त हो जाताहै; इस अवस्था में तितिक्षा बढ़जाती है और वैराग्य के पक्का होने पर

मनुष्य सन्यस्ताश्रम का अधिकारी होताहै जिस की धारणा तीनों से कठिन है और जिस में तीनों आश्रमों के धर्मों का त्यागहै परन्तु उस आश्रम के धर्म की पालना नहीं छूटती।

इस के उपरान्त आत्मस्वरूप के पहिचानने की इच्छा होती है और विहङ्गम मार्ग पर चलने अर्थात् चित्तवृत्ति के निरोध से अवधूत अवस्था मिलती है तब सन्यास धर्म के सारे बन्धन टूट जाते हैं और त्याग का भी त्याग हो जाताहै इसी अवस्था के दृढ़ होजाने को परमहंसगति कहते हैं और सर्व आश्रम उसकी प्राप्ति के साधन हैं।

सात्विक वृत्तिवाले पुरुष विषयों में आसक्त न होकर और वैराग्य को धारण करके ब्रह्मवेत्ता के सत्सङ्ग और उपदेश से अवधूतगति को पहुंचते हैं और उनके लिये किसी आश्रम के धर्म का नियम नहीं, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्णों में से कोई अथवा उन से इतर देहधारी भी विहङ्गम मार्ग से (जिस का सांख्य योग दूसरा नाम है) अवधूत पदवी का अधिकारी हो सकताहै।

इस समय सारी सभाने महर्षि वसिष्ठजी से प्रश्न किया आप सबसे श्रेष्ठ हैं और आप का विचार अनुभव और ज्ञान सबसे बढ़ा हुआ है, यह बताइये कि शास्त्रों ने जो जगत् के रूप को बहु प्रकार से निर्णय किया है उन में से कौनसा सत्य है।

वसिष्ठजी ने उत्तर दिया- हे प्यारे महापुरुषों जब आत्मा

ही सब में परिपूर्ण है तो निश्चय करके जानो सब सच कह रहे हैं; इस पर फिर प्रश्न हुआ, कोई शास्त्र अद्वैत कोई द्वैत और कोई त्रिमूर्ति को मानताहै सब सच्चे कैसे हो सकते हैं, यदि कोई वस्तु काली सिद्ध कीजावे तो वह श्वेत वर्ण की नहीं होसकती, एक ही वस्तु का काला और श्वेत होना असम्भव है; वसिष्ठजी ने व्याख्यान दिया कि जिस को जैसा दीखाहै उसने वैसा कहा है और सच कहा है, देखो जैसे लाल रङ्ग की उपनेत्र [ऐनक] से सारा जगत् लाल दीखता है और अन्य रङ्ग की उपनेत्र से उसी रङ्गका भासता है ऐसे ही सब शास्त्रों ने अपने २ अधिष्ठान से जगत् का वर्णन कियाहै, वास्तव में जगत् माया का भास है और सार वस्तु नहीं जिसे मैं ऐसा वा वैसा बताऊँ, जो सत्य से सत्यकी उत्पत्ति मानी जावे तो सब शास्त्र अपनी २ दृष्टि के अनुसार सच्च कहते हैं परन्तु मेरा निश्चय यह है कि ज्ञान की श्वेत वर्णवाली उपनेत्र से जगत् यथावत् दीखता है और देखते २ सत्य और असत्य की भावना जाती रहती है तब जो साक्षी शेष रहता है उसको सत्य मानना चाहिये ।

पराशर मुनि ने इस समय वर्णन किया--कि यज्ञ, तप, उपासना और ध्यानादिक अर्थात् कर्म योग के मार्ग से स्वरूप का ज्ञान होना कठिन है और इसके लिये बहुत काल चाहिये; विहङ्गम मार्ग में इतना परिश्रम नहीं होता और बहुत थोड़े काल में इस की सिद्धि हो जाती है कोई युक्ति इससे सुलभ नहींहै कि इस के लिये किसी बाह्य त्याग की अपेक्षा नहीं और

निश्चय मात्र को दृढ़ करना है, जो मनुष्य इस मार्ग पर चलते हैं वह साधना और बन्दना को छोड़ कर इसी निश्चय का नित्य अभ्यास करते हैं कि मैं नहीं हूँ, जिसको आन्तर्य त्याग समझना चाहिये; इस अभ्यास के दृढ़ होनेसे विचार की शक्ति बढ़ती है और यह सङ्कल्प उत्पन्न होते हैं जब मैं नहीं हूं तो फिर कौन है और यह जगत् क्या वस्तुहै और मेरा इससे क्या सम्बन्ध है जब वह इनमें से एक २ सङ्कल्प का निर्णय करता जाता है तब उसे निश्चय होताहै कि मेरा अहङ्कार मिथ्या है और तीन गुण और पञ्चइन्द्रियोंके समूहका विकार है ऐसा प्रतीत होने पर सबका त्याग होजाता है; विवेकी पुरुष विचार सकते हैं कि अब अहङ्कार का नाश निश्चय होजावे तब देह और सारे जगत् का अधिष्ठान कहां बन सकता है और यह बात साधारण कही जातीहै "आप मरे जग प्रलय" कर्मयोग वाले तो प्राणों की साधना से ब्रह्मकी प्राप्ति बताते हैं और उसकी विधि रेचक पूरक और कुम्भक कहते हैं परन्तु विहङ्गम मार्ग वाले (ज्ञान योगी) विचार अथवा यत्नद्वारे सिद्धि को प्राप्त होते हैं, उनकी रेचक साँस को देह से बाहर निकालनाहै, और इनकी रेचक सर्व सङ्कल्पों को अपने अन्तःकरण से बाहर कर देना है; उनकी पूरक सांस को बाहर से अन्दर खेंचकर भरना है, इनकी पूरक सङ्कल्प रहित अन्तःकरण में ब्रह्म की मूर्ति को स्थापित करना है; उनका कुम्भक प्राण पवन की गतिका रोकनाहै, इनका कुम्भक ब्रह्म की मूर्तिके निश्चय को साक्षी स्वरूप में लय कर

देना है; उनका साधन कर्म है, और इनका साधन यत्न; जिनकी अल्प बुद्धि है वह कर्म और यत्न के एक अर्थ समझते हैं परन्तु इन दोनों के अर्थों में बड़ा भेद है, नदी में तैरना एक प्रकार का कर्म है किन्तु विचार पूर्वक देखने से प्रतीत होगा कि तैरनेमें दो भाँति की क्रियाहैं एक चढ़ाव पर जाना दूसरा बहाव पर, बहावपर तैरने को कर्म कहते हैं और चढ़ाव पर जाने को यत्न; बहाव पर तैरने वाला नदी के बेग से कर्म के समुद्र में पहुँचता है और चढ़ाव पर तैरनेवाला उस स्थान को पाताहै जहाँ से नदी का आरम्भ हुवाहै, वहाँ पहुँच कर यत्न भी छूट जाताहै और बुद्धिमान उस अवस्था को प्राप्त होताहै जिसका वर्णन कृतकृत्य के शब्द से किया गयाहै अर्थात् वृत्तिरूपी नदी बहिर्मुख होके इन्द्रियों और इन्द्रियार्थों के बनमें डोलती है, चित्त के निरोध से उसका बन्ध बांधना और बहाव को अन्तर्मुख करना यत्न है; कर्म में प्रवृत्ति होने से कर्मकी वृद्धि होतीहै और अभिमान बढ़ता है जिस कारण अकर्म अवस्था का आनन्द दुर्लभ होजाताहै।

श्रीवेदव्यास मुनि जिनका दूसरा नाम कृष्णद्वैपायन है और जो वसिष्ठ महर्षि के पड़पोते और पराशर स्वामी के पुत्र हैं, सभा के मध्य खड़े होकर कहनेलगे--कि आप लोगों ने जो अपने २ सिद्धान्त वर्णन किये हैं उनके सत्य होने में किञ्चित् मात्र शङ्का नहीं परन्तु इस समयके प्रभाव से मनुष्यों की वृत्ति रजोगुणी बुद्धि बलहीन और मन चञ्चल होरहा है जिस

कारण वह अनेक प्रकार के कामनाओं और परिश्रमों में रात दिन लगे रहकर आत्मज्ञान से बिमुख हो गये हैं और जिन ग्रन्थों में आत्मज्ञान का वर्णन है उनके अर्थ को नहीं समझते और विपरीत भावना से ग्रन्थकार के आशय को न पहिचान कर अपनी बुद्धि के अनुसार अर्थ घड़लेते हैं मैंने अपनी त्रिकाल दृष्टि से अगले समय की रजोगुणी स्वभाव का विचार करके और बद्रिकाश्रम से उत्तर की ओर 'माना' गांव के समीप एकान्त स्थान में जिसे वेद पुस्तक कहते हैं, निवास करके वेद की शाखाओं को यथाशक्ति सुगम कर दिया और अनेक पुराणों को जो बाणी मात्र चली आतीथीं ग्रन्थ का रूप देदिया और वेदान्त शास्त्र के उत्तम सिद्धान्तों को एकत्र करके ब्रह्मसूत्र को रच दिया है जो बुद्धिमान संस्कृत भाषा को सीखने का परिश्रम उठायेंगे और विचार से काम लेंगे उनकी शंकायें निवृत्त होजायँगी और परमार्थ की प्राप्ति होगी मैंने एक और बड़ा ग्रन्थ इसी निमित्त बनाया है जो महा-भारत के नाम से प्रसिद्ध है और जिसमें अनेक इतिहास धर्म व्यवस्था नीति और बहुप्रकारकी विद्याओं का वर्णन है परन्तु मैंने उसके भीष्म पर्व में सब वेद शास्त्र और उपनिषदों का सार निकालकर सातसौ मन्त्रों में भरदिया है कि मनुष्योंको सारे ब्रह्मविद्या के ग्रन्थों के पढ़ने का क्लेश न होवे और वह ब्रह्मज्ञान के सार का संग्रह करके कृतार्थ होजावें इसके पश्चात् विवेकवान् मुनीश्वरों ने इतने भाग को अमूल्य और मुक्ति-दायक समझकर भीष्म पर्व से पृथक करलिया है और यह

ग्रन्थ भगवद्गीता के नाम से संसार में प्रसिद्ध है उन्हीं महात्माओं ने साँतसौ मन्त्रों में से दूसरी अध्याय के ग्यारवें मन्त्र के प्रथम अर्द्धभाग को पृथक् करके इस ग्रन्थ का बीज मन्त्र मानाहै, और अट्ठारवीं अध्याय के छयांसठवें मन्त्र में से शक्ति और कीलक मन्त्र बनाये हैं अर्थात सारी भगवद्गीता का सार इन तीन मन्त्रों में निकाललिया है ।

प्रथम बीज मन्त्र यहहै—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादाँश्चभाषसे

और इसके अर्थ भाष्यकारों ने साधारण विधि से लिखेहैं परन्तु लक्षार्थ ऐसे हैं—देह और जगत् नाशमान वस्तु हैं और सोचने के योग्य नहीं इनका सोच करना और उस सोच को ज्ञान मानलेना भ्रान्ति है, आत्मा अविनाशी है और देह और जगत् के बन्ध से रहित और नित्य मुक्त है उसका विचारना और समझना ज्ञान है; यह मन्त्र संसारियों को अविद्या की नींद से जगाता है ।

दूसरा शक्ति मन्त्र यहहै—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणंव्रज ।

इसके अर्थ हैं—कि सब धर्मों को छोड़कर मुझ अकेले की शरण में आओ, धर्म को छोड़नेसे अधर्म का स्वीकार करना इन शब्दों का आशय नहींहै और न ग्रन्थकार का यह उपदेश है; विचार से सिद्ध होगा कि यहांपर धर्म के अर्थ

स्वभाव के हैं और कोई वस्तु स्वभाव बिना नहीं है; आकाश का धर्म शब्द है, पवन का धर्म सुखाना, अग्नि का धर्म जलाना, जल का धर्म गलाना, पृथिवी का धर्म बोझल करना, मन का धर्म फुरना, बुद्धि का धर्म निश्चय करना, अहङ्कार का धर्म बिस्मृति, चैतन्य का धर्म चेतना है, इसी प्रकार सर्व जीव जन्तु पक्षी और पशुवों के अलग २ धर्म हैं और वर्णआश्रमों के भी; कोई वस्तु धर्म बिना नहीं इन सब धर्मों का त्याग किसी क्रिया द्वारा नहीं होसकता, और होवे भी तो क्रिया का धर्म तो बनाही रहताहै; सर्व का त्याग कैसे कहा जावे परन्तु मनुष्य देह में एक ऐसा व्यापार है जो ईश्वर कृत है और मनुष्य के परिश्रम के आधीन नहीं और वह प्राण अपान की गति है, जिस के प्रभाव से स्वाँस का अन्दर और बाहर जाना बनता है; इस गति का यत्न द्वारा निरोध करने से सब धर्मों का त्याग स्वतः हो जाताहै अर्थात् सर्व वस्तुओं से मन, बुद्धि, इन्द्रियादिक का संग छूटजाताहै और वृत्ति के शून्याकार होने पर साक्षी का विचार करते हुए बुद्धिमान् प्राणों की गति के स्वाभाविक शब्दों का द्रष्टा और अचिंत्यरूप हो जाताहै इसका अभिप्राय यहहै कि जब मनुष्य ऊपर लिखी हुई युक्ति से सब धर्मों अर्थात् स्वभावों से असंग हो जाताहै तब उसको "मामेकं" के अर्थ जो असपद को दिखाते हैं एक अंश में प्रत्यक्ष प्रतीत होते हैं।

तीसरा कीलक मन्त्र यहहै-

अहंत्वांसर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामिमाशुच

और इसके अर्थ हैं--कि मैं तुझको सारे पापों से छुटा लूंगा तू सोच न कर; शक्ति मंत्र के बल से 'माम' शब्द के लक्षार्थ समझने पर सर्व उपाधियों की हानि होजाती है इस में कोई संशय नहीं; बीज मन्त्र का प्रथम शब्द "अशोच्यान्" है और कीलक मंत्र के अन्त का शब्द "माशुच" है अर्थात् इन दोनों शब्दों के संयोग से भगवद्गीता का सिद्धान्त प्रतीत होताहै।

मेरे पिता श्री पराशर मुनि ने जो इस सभा में विराजमान हैं एक ग्रन्थ जिसका विष्णु पुराण नाम है रचा है, इसके अर्थ अति गूढ़ होने के कारण विवेकवान् ही समझ सक्ते हैं साधारण मनुष्यों के समझ में नहीं आते, इस ग्रन्थपर भाष्यकारों ने इतिहास लिखे हैं और गूढ़ अर्थों को यथाशक्ति सुगम कियाहै; विष्णु पुराण के चौथे अंश के चौबीसवीं अध्याय में भविष्यत काल की अवस्था और उसमें मनादिक की अधोगति वर्णन की है जो इस समय प्रत्यक्ष देखी जाती है; मेरे पिताने एक स्मृति और एक ज्योतिष ग्रन्थ भी रचा है जिनको उनके नाम पर 'पराशर स्मृति' और 'पराशरी' कहते हैं।

वसिष्ठ महर्षि से लेकर मेरे पुत्र शुकदेवजी तक हमारे वंशने आस्तिक धर्म का प्रतिपादन कियाहै और अनेक वेद और शास्त्रों को शोध कर संसार के उपकार के लिये एकत्र कियाहै और वैष्णव मतके सिद्धान्त को माना है।

इसके पीछे एक समय में सौनकादि ऋषीश्वरों ने नैमि-

षारण्य में इकट्ठा होकर सब शास्त्रों और पुराणों को शोधा था और उनमें इतिहास बढ़ाये थे, फिर तबसे किसीने इनको शुद्ध नहीं किया और विद्या की निर्बलता से लेखकों ने जो अनेक अशुद्धियाँ अक्षरों में कीं उन की शुद्धि न हो सकी और न कोई ऐसा विद्या सम्पन्न हुआ जो अर्थ को पहिचान कर अक्षर की अशुद्धि का निवारण कर सके, इस प्रकार संस्कृत की महिमा घटती चली गई और लोककी श्रद्धा न्यून होती गई; संस्कृत को देवभाषा कहते हैं इस कारण कि उस के शब्दों का उच्चारण ब्रह्मआकृति के अनुसार है अन्य भाषायें कृत्रिम हैं और संस्कृत से बिगड़ कर निकली हैं; मेरे रचे हुये ग्रन्थों में से ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता का भाष्य श्री स्वामी शङ्कराचार्य्य जी ने लिखाहै और वह अमूल्य रत्नहै परन्तु ऐसे महात्मा के भाष्य का समझना साधारण मनुष्यों का काम नहीं है; वह इस सभा की शोभा को शिव का अवतार होकर बढ़ाते हैं ।

अब श्री शङ्कराचार्य्य स्वामी सन्यासी का रूप धारण किये हुये उठकर सभा में व्याख्यान देने लगे—मैं शिव का अवतार हूँ और मैंने पञ्चभौतिक देह अपनी इच्छासे धारी है कि समय की प्रतिकूलता से जो मनुष्यों की मन और बुद्धि में मल विक्षेप और आवरण होगये हैं उन का निवारण करूँ और सनातन अद्वैतधर्म की महिमा जगत् में प्रत्यक्ष करूँ इस निमित्त एक तो मैंने नास्तिकवादियों के मतकी पुस्तकों को देखा और उनको वेद के आस्तिक निश्चय से विरुद्ध

पाकर न्याय की रीति से उनके सिद्धान्तों का खंडन किया और बहुत से राजाओं को जो बौद्धमत को मानने लगे थे सनातन धर्म में फिर लगादिया; दूसरे शैव ब्राह्म और वैष्णव मतों में जो भेद दृष्टि होगई थी उसको वेदान्त शास्त्र के उपदेश से मिटा दिया और तीनों की एकता प्रसिद्ध करदी; तीसरे वेदान्त के जो ग्रन्थ उपनिषद भगवद्गीता और ब्रह्म-सूत्रादिक चले आते थे और जिनके अर्थों को साधारण पुरुष बुद्धि की निर्बलता से समझ नहीं सकते थे और जिनमें विद्यावान् भी शंकायें करते थे उन का भाष्य मैंने लिखदिया कि इसके द्वारा लक्षार्थ सुगम हो जावें और आस्तिक निश्चय को दृढ़ता हो. चौथे मैंने अपने अवतार से उन शंकाओं को हटाया है जो अवतार शब्द के अर्थ समझने में उत्पन्न हो गई थीं और जिस कारण लोगों की श्रद्धा घटती जाती थी, अवतार के अर्थ उतरने के हैं और यह अद्वैत मत का प्रमाण है कि सर्व जगत् एक सच्चिदानन्द ब्रह्म का अवतारहै और जो द्वैत मत के अनुसार इसकी उत्पत्ति प्रकृति से मानी जावे तो भी पुरुष का प्रकृति में उतरना सिद्ध होताहै परन्तु गुणों के विभाग से तीन प्रकार के अवतार होते हैं-जीवकोटि, ईश्वरकोटि और ब्रह्मकोटि जगत् में जितने जीव जन्तु दीखते हैं वह जीवकोटि के अवतार हैं और सदैव बने रहते हैं परन्तु ईश्वरकोटि के अवतार कभी २ होते हैं, जिस समय तमोगुणी शक्ति से धर्म की हानि होजाती है और अधर्म की वृद्धि, तब अवतार के होने पर तमोगुणी आवरण का

निवारण और धर्म का स्थापन होता है और ऐसे अवतार समय २ के अन्तर होते चलेआये हैं और वह सर्वशक्ति सम्पन्न होतेहैं; ब्रह्मकोटि के अवतार सदा जगत् में रहते हैं परन्तु संसारी लोग उनकी अवस्था को पहिचान नहीं सकते और इस कोटि में बिरले ही महात्माओं का निवास है ईश्वर कोटि के तुल्य इनकी क्रियाशक्ति नहीं होती परन्तु उनमें ज्ञान का बल विशेष होताहै; पाँचवें मैंने आस्तिक धर्म की प्राप्ति के निमित्त मूर्त्ति पूजन की आवश्यकता को देखकर मन्दिर और देवालयों की अनेक स्थानों में प्रतिष्ठा करदी है कि बिना मूर्ति के भाव के अमूर्त की भावना नहीं बनती, जैसे जगत् को देखकर जगत् के कर्ता का होना सिद्ध होता है, और रूप से नामवाले का पता लगता है, और शब्द से अर्थ समझ में आतेहैं, इसी प्रकार आकार से निराकार की प्राप्ति होतीहै; मन और बुद्धि की गम आकार तक है और निराकार में उनका प्रवेश नहीं, निराकार की प्राप्ति के निमित्त मनका लय होना अवश्य है और मनके लय करने के लिये किसी मूर्ति अथवा आकारपर मनको ठहराना अवश्य है; मन के लय होनेपर निराकार का ज्ञान जिसे अनुभव कहतेहैं स्वतः उत्पन्न होताहै, जो महापुरुष आकार को लय करके निराकार में श्रुति लगा देते हैं उनको आकार और मूर्ति से प्रयोजन नहीं रहता परन्तु वह जिस सीढ़ी से चढ़े हैं उसका नीचे का डंडा नहीं तोड़ते कि पीछे पढ़नेवाले डंड के टूट जानेसे चढ़ने में दुःख पावेंगे ।

मूर्ति पूजन अथवा शिवार्चन आस्तिक्य मत और अद्वैत पद के प्राप्ति की सीढ़ी है, देखो महादेव के पार्थिव पूजन में पहिले एक मिट्टी का बड़ा गोला बनातेहैं फिर उनमें से छोटे २ टुकड़े लेकर शिवकी पङ्क्तियाँ बनातेहैं और सब के बीच में एक बड़ासा महादेव और गणेश और स्वामिकार्तिक के आकार बनाकर सबका पूजन करते हैं अन्त में सबको एक करदेतेहैं अर्थात् एक पिंड से सब निकलतेहैं और फिर उसी में मिलजाते हैं, इसी प्रकार जिसमें से सर्व आकार निकलते हैं और जिसमें लय होजाते हैं वोही पूजनीय अद्वैत पद है; संसार में कोई मनुष्य मूर्ति पूजन बिना परमार्थ को प्राप्त नहीं होसकता और जितने मत मतान्तर के लोग किसी मूर्ति आकार चित्र अथवा देवालय का स्मरण वा ध्यान करते हैं वह मूर्ति पूजन के ही माननेवाले हैं; मूर्ति पूजन स्थूल सूक्ष्म और कारण तीन प्रकार की होतीहै, किसी पञ्चभौतिक आकार को सन्मुख रखकर उस पर वृत्ति का जमाना स्थूल कहाती है; अन्तःकरण से किसी आकार शब्द वा प्रकाश का ध्यान करना मन की एकाग्रता के निमित्त सूक्ष्म कहीजाती है; अन्तःकरण के निरोध से जो तेज उत्पन्न होता है उसका द्रष्टा बना रहना कारण मूर्तिपूजन है तदनन्तर जिज्ञासु स्वयं रूप होजाता है।

इतने में राजा भर्तरी खड़े होकर कहनेलगे—कि मैं वैराग्य की सहायता से उस अवस्था को प्राप्त हुआहूँ जिसके परमानन्द का वर्णन बाणी नहीं करसकती, अकेले वैराग्य की

कृपा से सर्व मन बुद्धि और इन्द्रियाँ बिना किसी परिश्रम के अपने आप निर्बल होकर लय होजाती हैं इनके लय होने पर विवेक का स्वरूप स्वतः भासताहै, विवेक का वृक्ष वैराग्य के पत्र बिना खुंडा दिखाई देताहै और जैसे वृक्ष की शोभा पत्र बिना नहीं होती इसी प्रकार विवेक की धारणा वैराग्य बिना शुष्क होती है, मैंने अपनी वैराग्य अवस्थाके आनन्द का वृतान्त 'भर्तरीशतक, ग्रन्थमें लिखाहै जिसके पढ़ने और विचारने से वैराग्य उत्पन्न होताहै।

जब सारे महात्मा अपने २ वचन कह चुके तब ब्रह्माजी शिव और विष्णु के सन्मुख होके बोले—हे मेरे रूपो ! इस स्थान में जो समाज होरहाहै इसका कारण यह स्वप्नद्रष्टाहै जो सबसे अलग खड़ा है और जिसने सच्चे हृदय से स्वाध्याय यज्ञद्वारा हम सबका आवाहन किया है; हमारा आवाहन निष्फल नहीं होता और इसका फल अवश्य होना चाहिये; देवताओं के आवाहन और विसर्जन वेदमंत्रों द्वारा सदा होते रहेहैं परन्तु देवता कभी पञ्चभौतिक देह से प्रगट नहीं हुवे हैं अर्थात् उनके स्वरूप ज्ञानदृष्टी से प्रतीत हुए हैं; इस काल में भी मन्त्रों द्वारा उनका आवाहन वैसा ही होता है परन्तु अज्ञान दृष्टि उनका दर्शन नहीं कर सकती कि इस समय के लोग वेद के वाक्यों में श्रद्धा न रखकर और आत्म-ज्ञान से विमुख होकर उनके शक्तिरूप को नहीं पहिचानते जैसे किसी के सामने कोई अनजान पुरुष आके खड़ा होजावे तो देखनेवाला निश्चय नहीं कर सकता कि यही मेरा

बुलाया हुवा है परन्तु जिसे जानता होवे उसके सामने आने पर वह तत्काल पहिचान लेताहै कि मैंने इसको बुलाया था इसी प्रकार देवताओं का स्वरूप और अधिष्ठान न जानने के कारण उनका आवाहन प्रतीत नहीं होता और उनकी अवज्ञा होती है; देवता शक्तिरूप से सर्व जगत् में परिपूर्ण हैं और उसके सर्व कार्य को प्रत्यक्ष सिद्ध करते हैं परन्तु संसारी मनुष्य उनको नाम मात्र जानते हैं ।

श्री सदाशिव कहने लगे- कि यह अनुभवी स्वप्न का द्रष्टा तो स्वरूप के आनन्द में मग्न है और किसी फल की इच्छा नहीं रखता इसे कौनसा पदार्थ देना चाहिये; जिसने पञ्च-भौतिक सामग्री बिना अपने हृदय में ज्ञानाग्नि चेताकर सूक्ष्म अहङ्कार को जिसमें जगत् का भास रहता है आत्म निश्चय की वेदी में ब्रह्मविद्या के अर्पण से दग्ध करदिया है और जो ब्रह्मदर्शन के हुतशेष का स्वाद लेरहा है उसे क्या प्रसाद मिलना उचित है ।

विष्णु भगवान् ने कहा- हे ब्रह्माजी और शिवजी तुम अन्तर्यामी हो सो भली प्रकार बिचार के देखो कि इस समय में रजोगुणी शक्ति की विशेषता से मनुष्यों के मन और बुद्धि में कैसा विक्षेप होरहा है इसकारण इंद्रियाँ वलवान होकर काम क्रोध लोभ और मोह की कैसी वृद्धि करारहीं हैं; सब लोग निश्चय करने पर भी कि हमारी देह नाशमान् है और आँखों से देखकर भी कि जगत् के पदार्थ नष्ट होते रहते हैं भूलमें पड़े हुवे हैं और नहीं चेत्ते उनका

मन संकल्प विकल्प से क्षणमात्र शून्य नहीं होता और इन्द्रियों के भोग से वह कभी तृप्त नहीं होते, अपने देह को सुख पहुँचाने के निमित्त द्रव्यसञ्चय में बहुप्रकार के उपाय करते हैं और उचित अनुचित का विचार नहीं रखते; माया के भक्त होने के कारण माया भी उनकी सहायता करती है और इच्छित अथवा अनिच्छित फल देती है परन्तु उनको आत्मज्ञान से विमुख करके अविद्या के कूप में डाल देती है जहाँ से निकलना कठिन होजाता है और वह भ्रान्ति के रोग से नित्य दुःख पाते हैं, ब्रह्मविद्या की शब्दरूपी औषधि उनके कानों को नहीं सुहाती और वैराग्यरूपी चूर्ण उनके मुख को कड़वा लगताहै, वह ऐसी दीन अवस्था को अपनी उत्तम गति समझते हैं परन्तु अन्तसमय अवश्य पछताते हैं और कोई उपाय न बन पड़ने पर हाथ पाओं पसारकर चल देते हैं तब चौरासी के चक्र में उनको भ्रमण करना होता है और छुटकारा दुर्लभ होजाता है, ऐसे पुरुषों में सत्य और असत्य का विवेक न होने के कारण उनका कठोर हृदय शब्दरूपी बाण से नहीं बिंधता सो इस समय के अनुकूल यही युक्ति मनुष्यों के उद्धार के लिये सुलभ है कि उनको ब्रह्माकृतियों का दर्शन नेत्र द्वारा कराया जावे जिस विधि से उनको सुने हुवे शब्दों की प्रत्यक्ष साक्षी मिलसके, इस स्वप्न द्रष्टा को जिसने हमारा दर्शन किया है और जो इस प्रकार सर्व को अपने से भिन्न नहीं देखता हुवा कोई कामना नहीं रखता हम यह बर देते हैं कि वह जगत् के उपकार के लिये

हमारी आज्ञानुसार ऊपर वर्णन किये हुए आशय को यथाशक्ति व्यक्त कर देवे ।

श्री पराशर मुनि ने कहा कि इस कार्य की सिद्धि के लिये अब स्वप्नद्रष्टा को जो मेराही रूप है; आप सब देवता अपने २ आकार दिखावें वह मेरी उपदेश की हुई अध्यात्म विद्या द्वारा आपकी मूर्तियों के चित्र अपने हृदय में उतार लेगा और उनको पत्रपर दिखाकर आपकी आज्ञा पूर्ण करेगा, किसी और देहधारी में इस समय चित्र द्वारा आपकी मूर्तियों को प्रगट करने की शक्ति नहीं; तब सब देवताओं ने जो सभा में विराजमान थे इस वचन की सम्मति दी ।

पराशर मुनि ने कहा जो २ महात्मा ऋषि मुनि आदिक ब्रह्मवेत्ता हुवे हैं वह सब चिरञ्जीव और अमर हैं कि उनका स्थूल देह आकृतियों के अनुसार पञ्चमहाभूतों में मिलजाता है परन्तु उनका ज्ञान अथवा कारण शरीर अपने अव्यक्त अधिष्ठान में सदा बना रहताहै, जैसे अनेक घट बनते और बिगड़ते हैं और आकाश एक रूप रहता है वैसे ही उन महा पुरुषों के अल्पज्ञभाव और देह नष्ट हो जाते हैं परन्तु उनका सर्वज्ञ निश्चय अमर रहता है; जब उनके स्वरूप का अनुभव शुद्ध हृदय से कियाजावे तो वह अवश्य चिदाकाश में दृश्य मान होगा और ऐसे ब्रह्मपद को पहुंचे हुवे पुरुषों के आशय उनकी बाणी और ग्रन्थों से भी पहिचाने जाते हैं देहाभिमानी मनुष्य उनके पञ्चभौतिक देह को नष्ट हुआ जानकर उनके स्वरूप का नाश मान लेते हैं, जिस प्रकार वेद मन्त्रों द्वारा

देवताओं का आवाहन होता है वैसे ही शुद्धभावना से इन महात्माओं का दर्शन मिलता है। शिवजी ने कहा—कि हे विष्णुदेव अब आपसे प्रार्थना है कि सब से पहिले आप अपनी मूर्ति को दिखावें।

इस समय विष्णु भगवान् अपनी मूर्ति दिखाने को खड़े हुए और कहने लगे—कि जितने देवता और महात्मा इस सभा में विराजमान हैं वह अपनी बहिर्मुखवृत्ति को रोककर अन्तर्ध्यान में प्रवृत्त होवें तब मेरी मूर्ति का दर्शन होगा, इन शब्दों के कहते ही सारी सभा ने एकाग्र वृत्ति करली और ऐसा करते ही पहिले तो सबकी एक शून्याकार अवस्था होगई जिस में कुछ भी नहीं दीखता था फिर क्षणभर में एक ऐसा अद्भुत और अनन्त तेज दीप्तमान हुआ जिसकी तीव्रता से आंखों में चकाचौंद आगई और जो २ सभा में आये हुए थे वह सब तेजमयी दीखने लगे और किसी के आकार का दूसरे के आकार से भेद नहीं रहा और स्वप्न-द्रष्टा भी वैसाही हो गया तब यह पहिला चित्र प्रत्यक्ष दिखाई दिया।

॥ व्याख्या ॥

पहिले दर्शन का विश्वरूप नाम है ।

इसकी मूर्ति अण्डाकार है अर्थात् देखने में तो पत्र के समान फैली हुई प्रतीत होती है परन्तु वास्तव में गोले के समान है ।

जितने रंगों के चक्र बने हैं वह गोरखधन्धे की डिबिया के समान एक दूसरे के अन्दर समाये हुए हैं ।

सब से अन्दर का और सब से छोटा गोला पृथिवी मंडल है और उसका रंग मटियाला है ।

इस से बड़ा और दूसरा गोला जल का मण्डल है और इस का रंग हलका नीला है ।

अन्दर से तीसरा गोला अग्नि मंडल है और इस का रंग लाल है ।

चौथा गोला पवन मंडल है और इसका रंग हरा है ।

पांचवां गोला आकाश मंडल है और इसका रंग गहरा नीला है ।

छठा गोला मन का चक्र है और इसका रंग धुवें का सा है ।

सातवां चक्र बुद्धि मंडल है और इसका रंग पीला है ।

आठवां चक्र अहंकार का मंडल है और इस का रंग हलका कत्थई है ।

नवां चक्र चेतन्य का मंडल है और इसके रूप में लाल

रेखा और श्वेतपत्र मिले हुएहैं।

दशवां श्वेतपत्र है जिसको स्फटिकमणि के समान समझना चाहिये और जिसका कोई रंग नहीं।

पहिला चित्र में जिसप्रकार रंग दिखाये गयेहैं उसी प्रकार अन्य चित्रों में समझने चाहियें अर्थात् मटियाला रंग सर्वत्र पृथिवी अथवा उसके गुण को दिखाता है और हलका नीला जल और उसके गुण को बताता है ऐसाही और रंगों का वृत्तान्त जानना चाहिये।

प्रथम दर्शन

विश्वरूप ।

श्रीविष्णुभगवान् ने कहा- तुम जो यह मेरी मूर्ति देख रहे हो इसको विराट् महतोमहीयान् और ब्रह्मवाह्य दर्शन भी कहतेहैं और ॐ तत्सत् सत् चित् आनन्द अस्ति भाति प्रियं जो तीन २ शब्द ब्रह्मस्वरूप के वाचकहैं यह उनमें से सत् और अस्ति के लक्ष को दिखाती है; इसमें जो आठ रंगों के चक्रहैं वह मेरी अष्टधा प्रकृतिहैं जिन्हें रामचंद्र अवतार मैंने अष्टकला के रूप से प्रगट कियाहै; इसी मूर्ति को मैंने कृष्ण के सोलहकलावाले अवतार में महाभारत के समय अर्जुन को अपने योगबल से फिर दिखाया था और इसका वर्णन भगवद्गीता के ग्यारहवीं अध्याय के नवें मंत्र से पैंतालीसवें मन्त्र तक हुआहै; भूतआकाश और मन आकाश में मेरी इस मूर्ति का दर्शन असम्भव है परंतु उस चिदाकाश में जिसके ऊपर कहेहुए दोनों आकाश प्रतिबिम्बहैं दर्शन होसकता है ।

चिदाकाश के पार मेरा परमपद है जिसको श्वेतपत्र के समान समझना चाहिये और जिसपर आठों चक्र और नवीं रेखायें खिची हुईहैं इसीको दशवां अधिष्ठान मानतेहैं परन्तु उसका कोई आकार न होनेके कारण उसे शून्य बिन्दी से

दिखातेहैं, जैसे किसी नाटक की सभा में दीपक बलता है और सारे अच्छे और बुरे खेलों को दिखाताहुआ उनसे कोई प्रयोजन नहीं रखता वैसेही मैं सर्व जगत् को प्रकाश देताहूं और आप निर्लेप रहताहूं; गुण और दोष दोनों प्रकृति में रहतेहैं और मैं निर्गुणभाव से नित्य असंग रहताहूँ।

इसके अन्दर जो रेखाओं का चक्र अथवा नवां अधिष्ठान् है उसे जीवलोक वा चैतन्यदेश समझो और यहाँसे जो प्रेरणा इच्छारूप होकर उत्पन्न होतीहै वह सूक्ष्मसे स्थूल होतीहुई आठों मण्डलों का आधार बनजाती है और उनके गुणों के संयोग से अंतःकरण और सर्व इन्द्रियों को प्रगट करती हैं जिनको मैं प्रकाश देताहूँ और जिनसे विवर्जित रहताहूँ और गुणों का भोक्ता प्रतीत होनेपर भी निर्गुण बनारहता हूँ; देखो एक सूर्य्य आकाश मण्डल से सर्व जगत को प्रकाश देताहै यदि किसी भांडे में जल भराहोवे तो उसमें सूर्य्यका प्रतिबिम्ब दिखाई देताहै और जलके हिलने से सूर्य्य हिलताहुआ प्रतीत होताहै इसी प्रकार जहां २ माया की पञ्चभौतिक ग्रन्थि के पड़ने से देह बनजाती है और प्राणरूपी जल उसमें भरजाता है; तहां तहां मेरे तेज का प्रतिबिम्ब भासता है और देह में चैतन्यता आजाती है, यदि भाँडेमें से जल गिरजावे तो सूर्य्य का प्रतिबिम्ब उनमें नहीं दीखता ऐसेही देह से प्राणों का वियोग होने पर मेरा प्रतिबिम्ब देह में नहीं पड़ता और देह मृतक कहा

जाता है इसी निमित्त जीव को चैतन्य का अंश मानते हैं, अब विचार करके देखो कि वास्तव में कौन जन्मता है और कौन मरता है वह मेरी माया शक्ति का खेल है जिस करके संसार मोहित होरहा है और गुण और दोष का अध्यास करता है।

इसके नीचे का और अन्दर की ओर से आठवां चक्र जो कत्थे के रंग का दीखता है वह मेरी मूलप्रकृति का स्थान है इसीको हिरण्यगर्भ और कारण अहंकार कहतेहैं; और यही हमेश का स्वरूप है; सारे जगत् की वस्तुओं का ज्ञानमयी बीज इस अधिष्ठान् में रहता है और वह मेरी चैतन्यशक्ति से नीचे के चक्रों में प्रवेश करता हुआ और अंकुर की भांति बढ़ताहुआ पृथिवीतक चलाजाता है, तीनों अधिष्ठान जिनका ऊपर वर्णन होचुका ज्ञान की त्रिपुटि कहलाते हैं और इनमें देश और काल का भेद नहींहै किन्तु समझाने के लिये पृथक् दिखाये जातेहैं।

ऊपर से चौथा और नीचे से सातवां चक्र जो पीले रंग का है वह बुद्धि का अधिष्ठान है इसकी एक ओर तो कारण त्रिपुटी है जिसका ऊपर वर्णन होचुका और दूसरी ओर सूक्ष्म और स्थूल दो त्रिपुटियाँहैं जिनका वर्णन आगे होगा; जिस समय बुद्धि की दृष्टि कारण त्रिपुटि की ओर अथवा अन्तर्मुख होतीहै तिस काल में वह चैतन्य को अनुभव करती है और जब उसकी दृष्टि सूक्ष्म और स्थूल त्रिपुटि की ओर अथवा वहिर्मुख होतीहै तो संसार का भाव

प्रतीत होताहै; आकृतियों के अनुसार बुद्धि के चक्र में पृथिवी मण्डल से बारह रेखायें आती हैं और इस कारण उस में बारह १२ घर बनते हैं अर्थात् सात चक्रों में बारह रेखाओं के विभाग से चौरासी घर बन जाते हैं, कारण त्रिपुटि से बारह रेखायें निकलकर देश बनता है और सूक्ष्म त्रिपुटि से सात चक्र उत्पन्न होके काल प्रतीत होता है; देश और काल के संयोग से अर्थात् १२ को ७ गुणा करने से चौरासी का अङ्क सिद्ध होता है जिसे वस्तु समझना चाहिये और जो पञ्चमहाभूत के रूप में दृश्यमान हैं इन पाँचों की स्थूल मूर्ति और जड़ संज्ञा है और इन के आकार शून्य विन्दु (०) के सामन हैं जिस कारण इन को खः नभ व्योम गगन और आकाश के नाम से पञ्चशून्य मानते हैं; ८४ के अङ्क पर ००००० के बढ़ाने से ८४००००० का अङ्क सिद्ध होता है और यह उस काल चक्र का चिन्ह है जिस में सर्व जगत फँसा हुआ है।

इस चक्र से निकलना ब्रह्मदर्शन बिना नहीं बनता और ब्रह्मदर्शन तबही मिलता है जब बुद्धि की दृष्टि चैतन्य की ओर चौरासी के चक्र से बाहर निकल जाती है; वेद उपनिषद् और शास्त्रों में जो अनेक युक्तियाँ बताई गई हैं उन सब का यही एक प्रयोजन है।

इस चक्र से अन्दर की ओर एक श्वेत मण्डल है और वह कारणत्रिपुटि को सूक्ष्मत्रिपुटि से पृथक् दिखाता है।

अन्दर से छठा धुवें के रंग का मण्डल मन का अधिष्टान

है और बुद्धि का प्रवेश इस में होने से जगत की भावना होती है; चैतन्य के नवें चक्र में बुद्धि कारण इच्छा का रूप धारण किये हुए उत्पत्ति का हेतु और माता समान है और आठवें मण्डल में मूलप्रकृति बनके पुरुष की बहन के तुल्य है, सातवें मण्डल में विद्या का रूप ग्रहण कर के पुत्री संज्ञा पाती है, इस छठे मण्डल में पहुँचकर स्त्री कहलाती है और अपने पति मन के साथ भोग विलास के निमित्त आकाश, पवन, अग्नि, जल और पृथिवी के पाँच आवरणपटों से गुप्त स्थान रचती है और विषय भोग की अधिकता से बाँझ हो जाती है अर्थात् कोई सत्य पदार्थ तो उत्पन्न नहीं करती परन्तु अपने पति को लुभाने के लिये जगत के मिथ्या भाव को सत्य कर के दर्साती है और वेश्या की भाँति चौरासी घर वाली चौसर फैलाकर उसके वैराग्य और विवक रूपी धन को हर लेती है।

अन्दर से पाँचवां नीले रंगवाला मण्डल आकाश का है जहाँ से पञ्चमहाभूत की उत्पत्ति का आरम्भ समझना चाहिये और जो अन्य चार महाभूतों से सूक्ष्म होके उन का अधिष्ठान है इसका नाम खः और गुण शब्द है; अन्दर से चौथा हरे रंगवाला वायु का मण्डलहै जिसका नाम नभ और गुण स्पर्श है; ऊपर वर्णन किये हुए तीन मण्डल अर्थात् मन आकाश और वायु रूप नहीं रखते और इस कारण उनका नाम सूक्ष्म त्रिपुटि है; अन्दर से तीसरा लाल रंग वाला मण्डल अग्नि का है और उसका देवता सूर्य है जिसकी

शक्ति से रूप की प्रतीत होती है इसीको व्योम कहते हैं।

अन्दर से दूसरा हलके नीले रंगवाला मण्डल जल का है और इसका देवता चन्द्रमा है इसीको गगन कहते हैं और यही रस शक्ति का आधार है।

सबसे अन्दर का अथवा पहिला गोला जिसका मटियाला रंग है पृथिवी का है इसके अधिष्ठान को आकाश कहते हैं और गन्ध इसकी मात्रा है; ऊपर कहेहुवे तीन मंडल अर्थात् अग्नि जल और पृथिवी का नाम अस्थूल त्रिपुटी है और इसको त्रिलोकी भी कहते हैं।

कारण त्रिपुटि में अग्नि का ज्ञान स्वरूप है; सूक्ष्म त्रिपुटि में उसका स्वरूप बाणी है और स्थूल त्रिपुटि में उसके रूप को जठराग्नि कहते हैं।

कारण त्रिपुटि का अक्षर नाम है और इसको कूटस्थ भी कहाहै सूक्ष्म और स्थूल त्रिपुटियों को क्षर रूप माना है और सर्वभूत इसके अन्तर्गत हैं।

कारण और सूक्ष्म त्रिपुटियां अमूर्त हैं और स्थूल त्रिपुटि मूर्तिमान है।

पृथिवी मंडल में इस चित्र का केन्द्र है जहां से बारह रेखायें निकलती हैं और सात मंडलों को बींधती हुई बुद्धि के मण्डल तक जिसका पीला रंग है जातीहैं इस प्रकार सातों मण्डलों में बारह २ घर ताने के समान बनजाते हैं और दो २ रेखाओं से सात मण्डलों के मध्य सात २ घर बाने के समान बनते हैं; बारह घरों में से जिस घर में १ का

अङ्क है उन सातों और उससे ऊपर के मण्डलों में पृथिवी से लेकर श्वेतपत्र तक एक से दस अङ्क निषेध को दिखाते हैं अर्थात् जिज्ञासु इन अंकों के क्रम से यत्नद्वारा दसवें अधिष्ठान तक जासकता है; २ के अंक वाले सातों घरों में भगवद्गीता की सातवीं अध्याय के चौथे मन्त्र के अनुसार सात प्रकृतियों का वर्णन है; आठवीं का अधिष्ठान कत्थे के रंगवाले अष्टम चक्रमें है और नवीं पराप्रकृति का स्थान रेखा वाले मण्डल में है; ३ के अंक के सामने के सातों घरों में छओं शास्त्र और सप्तम ज्ञानका अधिष्ठान दिखाया गया है।

पृथिवी मण्डल को देखकर न्याय शास्त्र उसके स्वामी का होना सिद्ध करता है।

मीमांसा चन्द्रलोक को देखकर पुरुषार्थ द्वारा उस स्वामी की प्राप्ति बताता है।

वैशेषिक सूर्य लोक का द्रष्टा बनकर परमात्मा का स्थान देश और काल के पार दिखाता है।

पातञ्जल शास्त्र पवन मण्डल का साक्षी होकर प्राण शोधन से उस स्थान को प्राप्ति बताता है।

सांख्य आकाश मण्डल का द्रष्टा बनकर विचारद्वारा सत्य असत्य के निर्णय से आत्म दर्शन सिद्ध करता है।

वेदान्त शास्त्र मनके अधिष्ठान से चैतन्य का अद्वैतभाव मानता है।

ज्ञान स्वयम् प्रकाश होके छओं शास्त्रों के सिद्धान्तों को एक चैतन्य में लय करता है और इस अवस्था से

उत्तम कोई अवस्था नहीं है इसलिये वह परमपद कही जाती है।

४ के अङ्क के सामने के सात घरों में ब्रह्माकृतियों के अनुसार दस आकार दिखाये गये हैं और उनका विस्तार अशून्य विन्दु से शून्य विन्दुतक है अर्थात् प्रथम आकार से द्वितीय आकार और द्वितीय से तृतीय आकार सङ्कीर्ण होते चले आते हैं (इन का वर्णन विस्तार पूर्वक तीसरे चित्र में किया जायगा)।

५ के अङ्क के सामने के सात घरों में सप्तर्षियों के अधिष्ठान हैं जिनका सूक्ष्म रूप है और जिनकी स्थूल मूर्ति भूत आकाश के अन्तर सात तारों के समूह के रूप में सब को दिखाई देती है।

६ के अंक के सामने सात घरों में पुराणों के अनुसार सात नीचे के लोकों को दिखाया है परन्तु लोक के शब्द से भिन्न २ स्थान न समझने चाहियें कि उनका विभाग बुद्धि कल्पित है और जो ऊपर के सात लोक इनके सन्मुख हैं उनके यह सब प्रतिबिम्ब के समान हैं; यही नाग यक्ष किन्नरादिकों के देश हैं।

७ के अंक के सामने के सात घरों में विधि के अंक १ से १० तक लिखे हुए हैं और वह प्रकृति के प्रादुर्भाव को दिखाते हैं।

८ के अंक के सामने के सातों घरों में देह के सातों आवर्ण दिखलाये गये हैं और इन्हीं को उपनिषदों ने सप्त

धातु और सात समुद्र भी कहा है ।

६ के अंक के सामने के सातों घरों में सप्तलोक का वर्णन अथर्वण वेद के अनुसार है ।

१० के अंक के सामने के सात घरों में साम वेद के अनुसार सप्तस्वर का विस्तार दिखाया है और तीन ग्राम को मानकर गायन विद्या ने ७×३=२१ स्वरों को सिद्ध किया है जिन से अनेक राग और रागनियों के ग्रन्थ रचे गये हैं यह गन्धर्वों का स्थान है ।

११ के अंक के सामने के सातों घरों में ऋग्वेद के अनुसार सात देवताओं का वर्णन है जो अपने २ लोक के स्वामी हैं और जिनकी सहायता से जगत् के सर्व कार्य बनते हैं; अश्विनीकुमार, ऊषा, मित्रा, तीन देवताओं के नाम इस कारण चित्र में नहीं दिखाये गये कि वह अल्पज्ञ भाव को धारण किये हुए त्रिलोकी के अन्तर्गत हैं ।

१२ के अंक के सामने के सात घरों में सप्त भूमिका अथवा व्याहृतियाँ दिखाई गई हैं और वह यजुर्वेद के अनुसार हैं इनका संक्षेप से वर्णन करना इस समय उचित है ।

(१) ज्ञानाग्नि में क्षोभ उत्पन्न होने से सत्यलोक प्रतीत हुआ और इसका स्वरूप बुद्धि है ।

(२) क्षोभ से ऊष्णता उत्पन्न होने पर तपलोक की भावना हुई और इस का स्वरूप मन है ।

(३) ऊष्णता से तेज की उत्पत्ति हुई और जनलोक प्रतीत हुआ और इसका रूप आकाश है ।

(४) तेज से प्रकाश फैला और महर्लोक भासने लगा इसका रूप पवन है ।

(५) प्रकाश ने अग्निके रूप को दिखाया और स्वर्लोक प्रत्यक्ष होगया जिसका रूप अग्नि है ।

(६) रूप से धुवाँ निकला और भुवर्लोक व्यक्त हुआ जिसका रूप जल है ।

(७) धुवेंके एकत्र होनेपर काजल बनगया और भूःलोक प्रघट हुआ और इसका रूप पृथिवी है ।

संसार में जितने नानाप्रकार के भावहैं वह सब इस चित्र के अन्तर्गतहैं अर्थात् संक्षेप करके उनका वर्णन इस चित्र के किसी घर में अवश्य आगया है और उनका विस्तार पूर्वक दिखाने की यहांपर आवश्यकता नहीं ।

इस चित्र की स्थूल त्रिपुटि का नाम विश्व है, सूक्ष्म त्रिपुटि को तेजस कहतेहैं और कारणत्रिपुटि प्राज्ञ कहलाती है और श्वेतपत्र तुरीय का लक्ष्य है ।

अध्यात्म विद्या के अनुसार चैतन्यदेव चौबीस अंश माया का साक्षी होकर नेत्रों में बास करता है और इस अवस्था का नाम जाग्रत है, माया के सत्रह अंश का दृष्टा होकर हृदय में बास करता है और इस अवस्था का नाम स्वप्न है, माया के एक अंश का साक्षी होकर कंठ में निवास करताहै और इस अवस्था का नाम सुषुप्ति है, तीनों अवस्थाओं का साक्षी होकर और माया से रहित होकर ब्रह्मरन्ध्र में बिश्राम करताहै और इसको तुरीयपद कहते हैं, जब चैतन्यदृष्टाभाव

का सम्पूर्ण त्याग कर देता है तब तुर्यातीत कहाजाता है ।

आठवें मंडल में बारह घर हैं जो कालचक्र से ऊपर और चैतन्य की रेखाओं के नीचे हैं और जिनमें बारह महावाक्य वेदोंके दिखाये हैं अर्थात् एक २ वेद के तीन २ महावाक्य हैं ऋगवेद का प्रज्ञानआनंदब्रह्म, यजुर्वेद का अहंब्रह्मास्मि; सामवेद का तत्त्वमसि और अथर्वणवेद का अयंआत्माब्रह्म इन चारों महावाक्य का लक्षार्थ एकही है, आठवें अधिष्ठान में वृत्ति को ठहराकर इन महावाक्यों की साधना बनती है, देह अभिमानियों को इन शब्दों का उच्चारण मात्र करने से कोई लाभ नहीं होसकता ।

प्रत्येक मण्डल में जो निषेध और विधि दो प्रकार के अंक लिखे हैं उनके जोड़ने से ग्यारह का अंक बनता है और इन्हीं को एकादश रुद्र माना है ।

पञ्चमहाभूत मन बुद्धि और अहंकार इन आठों का नाम अष्टवसु है, चौरासी घर जो कालचक्र के अंतर्गत हैं उन को यमपुरी माना है, इसी प्रकार अन्य देवताओं के अधिष्ठान इस चित्र में मिलेंगे ।

ऋगवेद के पुरुषसूक्त का अर्थ इस चित्र में खोलागया है और इसको नित्य नेत्रों के सामने रखना श्रवण का अभ्यास है और उसके विस्तार पर विचार करना मनन है श्रवण और मनन का परिपक्व निश्चय होजाना निदिध्यासन कहलाता है इसके उपरांत ब्रह्म का साक्षात दर्शन होसक्ता है ।

॥ द्वितीय दर्शन ॥

तेजस स्वरूप ।

श्रीभगवान् ने कहा- कि तुम सब मेरी प्रथम चित्र को तो देखचुके जिसका सगुण रूपथा और जिसके अर्थ को बुद्धि किञ्चित् ग्रहण करसकती थी अब मैं तुम्हें अपना विचित्र चित्र दिखाता हूँ जिसका निर्गुण स्वरूप है और जिसके देखने के लिये अनुभव दृष्टि की अपेक्षा है अर्थात् प्रथम दर्शन महतोमहीयान् को समझाता है और यह दूसरा दर्शन अणोऽणीय को दिखाता है, इसमें मण्डलों का क्रम प्रथम चित्र से उलटा है और इसका अभिप्राय यह है कि दूसरी चित्र में श्वेत विन्दु सबके अन्तर है और उसके समीप चैतन्य की लाल रेखायें हैं उनके बाहर अहंकार का चक्रहै उसके आगे बुद्धिका मण्डलहै इसीप्रकार मन, आकाश, पवन, अग्नि, जल और पृथिवी के मण्डल एक दूसरे के आगे आतेहैं, जैसे दर्पण के सन्मुख होनेसे किसी पुरुष के अङ्ग प्रतिबिम्ब में पलटेहुए दिखते हैं अर्थात् दाहाँ अंग बाहाँ और बाहाँ अंग दाहाँ दिखता है और यदि कोई जल के निकट देवालय बनाहो तो उसका शिखर जल में सबसे नीचे प्रतीत होताहै इसीप्रकार आन्तर्य और बाह्य दृष्टि के भेद से पहिली और दूसरी मूर्ति आधेय और आधार के समान हैं ।

प्रथम चित्र की मूर्ति को श्वेतपत्र घेरेहुए है और वह ब्रह्म का सर्वज्ञरूप है जिसका दृष्टा अध्यात्म में जीव बनता है; इस मूर्ति में श्वेत विन्दु सबके अन्तर है और वह ब्रह्म का अल्पज्ञभाव अथवा जीव मानागया है जिसका साक्षी चैतन्य है, इसप्रकार जीव और ब्रह्म दोनों का चैतन्य साक्षी है और श्वेत विन्दु और श्वेतपत्र में किञ्चिन्मात्र भेद नहीं है कि सारे मण्डल मायाकल्पित आवरण हैं।

संक्षेप करके यह कहना उचित है कि दूसरा चित्र बिम्ब के समान और प्रथम चित्र प्रतिबिम्ब के तुल्य है; बिम्ब को प्रतिबिम्ब का ज्ञान होताहै परन्तु प्रतिबिम्ब को बिम्ब का ज्ञान नहीं होता, इसीकारण बिम्ब और प्रतिबिम्ब की आठ २ कलायें जोड़कर इस चित्र में सोलह अङ्क दिखाये गयेहैंजो मेरे सम्पूर्ण अवतार को जतातेहैं; प्रतिबिम्ब की आठ कलाओं का वर्णन प्रथम दर्शन में होचुका है और इस चित्र में कृष्ण अवतार का सोलह कलावाला स्वरूप दर्साया गयाहै जिसका वर्णन भगवद्गीता की ग्यारहवीं अध्याय के ४६ मन्त्र से ५५ मन्त्र तक है।

बिचार से समझ में आवेगा कि भगवद्गीता की सातवीं अध्याय के आशय को पहिला चित्र विस्तार पूर्वक दिखाती है और नवीं अध्याय के अभिप्राय को दूसरा चित्र सम्पूर्ण प्रगट करदेता है।

प्रथम चित्र के आठवें मण्डल में जो बारह महावाक्य दिखाये हैं उनके शब्दों का क्रम इसप्रकार पलट जाताहै

कि प्रज्ञानं आनन्द ब्रह्म लौटकर ब्रह्म आनन्द प्रज्ञान हो जाता है; अहं ब्रह्म अस्मि पलटकर अस्मि ब्रह्म अहं हो जाता है और तत् त्वं असि पलटकर असिं त्वं तत् होजाता है और अयं आत्मा ब्रह्म लौटकर ब्रह्म आत्मा अयं बन-जाता है; महावाक्यों के पलटने का तात्पर्य यह है कि पहिली मूर्ति के महावाक्य ब्रह्मविद्या के अनुसार हैं और परोक्ष ज्ञान देते हैं इन्हीं महावाक्यों का जो पलटा हुआ क्रम ऊपर वर्णन किया गया है वह अध्यात्मविद्या के अनुसार अपरोक्ष ज्ञान का दायक है जिस के अनुभव से चैतन्य के एक अंश में सर्व जगत् की स्थिति प्रत्यक्ष होजाती है।

॥ तृतीय दर्शन ॥

प्राज्ञ ।

श्रीपराशर मुनिने कहा-कि जो दो मूर्तियाँ विष्णु भगवा ने तुम्हें दिखाई हैं और जिनको विश्व और तेजस, व्यक्त और अव्यक्त अथवा रूप और स्वरूप मानते हैं उनमें जगत् की सर्व विद्याओं तथा आकारों का संक्षेप से वर्णन हो चुका है, अब मैं इस सभा को उस गुह्यविद्या का सिद्धान्त तीसरी चित्र द्वारा दिखाता हूँ जो प्राज्ञअवस्था का वृत्तान्त है, सावधान होकर इस मूर्ति को देखिये और विचारिये कि इस में अङ्क विद्या का सार भरा हुआ है और ऐसे अधिष्ठान का वर्णन करना जहाँ रूप और स्वरूप दोनों नहीं अतिकठिन है।

पहिली चित्र के चौथे घर में जो ब्रह्मआकृतियाँ दिखाई जाचुकी हैं उनका इस चित्र में विस्तार किया जाता है।

१ सब से ऊपर के घर में तारे के समान एक बिन्दु है जो सर्व की उत्पत्ति का हेतु और सर्व का प्रकाशक है और अशून्य है अर्थात् इसके अन्तर किंचित् शून्य नहीं यह स्वयं तेज से परिपूर्ण है और अनुभव विन्दु कहलाता है इसका स्वरूप अकाल है और रूप १ का अंक है।

२ इसके नीचे अथवा दूसरे घर में एक रेखा बनी हुई है और इसकी उत्पत्ति ऊपर वर्णन किये हुए विन्दु से है अर्थात्

जैसे तेज से कोई प्रकाश करनेवाली किरण निकलती है वैसे ही उस विन्दु के स्वभावानुसार फैलने से रेखा बनी है और अन्त में दूसरा विन्दु व्यक्त हुआ है जिसका नाम चैतन्य विन्दु है, इस प्रकार २ का अंक सिद्ध हुआ और लम्बाई की प्रतीति हुई; वास्तव में रेखा विन्दुओं का समूह है परन्तु उसके आदि और अन्त में विन्दुओं के व्यक्त होने के कारण रेखा २ के अंक को दिखाती है।

३ तीसरे घर में त्रिकोण की मूर्ति है और उसकी उत्पत्ति इस प्रकार हुई है कि दूसरे घरवाली रेखा के अन्त में जो चैतन्य विन्दु है उसने चौड़ाई की ओर फैलकर एक दूसरी रेखा बनाई और उस के अन्त में तीसरे विन्दु को प्रगट किया जिसका नाम अहङ्कार विन्दु हुआ यह मूर्ति ३ के अंक को सिद्ध करती है और लम्बाई और चौड़ाई अथवा देश को स्पष्ट करती है।

ब्रह्मआकृतियों के अनुसार जगत् में यही तीन अंक सिद्ध हैं और इतर अंक इन्हीं के परस्पर संयोग से रचे गये हैं; यहाँतक कारण त्रिपुटि का वर्णन समाप्त हुआ।

४ चौथे घर में वर्ग का आकार है और उसकी रचना इस प्रकार हुई है कि त्रिकोण के अन्त में जो अहङ्कार विन्दु ऊपर कहागया उसने एक और रेखा बनाई और चौथे विन्दु को उत्पन्न किया जिसका नाम बुद्धि विन्दु हुआ और जिस का रूप ४ का अंक बन गया अर्थात् एक त्रिकोण (＜) पर एक विन्दु (.) अधिक होने से (◇) ऐसा आकार

प्रतीत होने लगा, इस चतुष्कोण मूर्ति का रूप अन्तःकरण है और सूक्ष्म त्रिपुटि का यहाँ से आरम्भ है।

५ पाँचवें घर में पञ्चमुखी आकार है और उसकी उत्पत्ति इस प्रकार है कि चतुष्कोण के अंक में जो बुद्धि का विन्दु था उसने पांचवें मन के विन्दु को ऊपर वर्णन की हुई रीति से उत्पन्न किया और ५ के अंक को बनाया; यह मूर्ति एक त्रिकोण (<) और एक रेखा (\) के मिलने से बनती है और पञ्चमात्रा का रूप (<_|) रखती है, सूक्ष्म त्रिपुटि का यहाँ पर दूसरा चिन्ह है।

६ छठे घर में षट्कोण का आकार है और उसकी रचना इस प्रकार हुई है कि पञ्चमुखी मूर्ति के अन्त में जो मन का विन्दु था उसने आकाश विन्दु को प्रतीत कराया और इस का रूप ६ का अंक हुआ; यह मूर्ति दो त्रिकोण (<>) के संयोग से बनी है और यह प्रत्यक्ष प्रमाण है कि आकाश की छः दिशायें हैं एक ऊपर की ओर दूसरी नीचे की ओर और चार दिशा चारों ओर जिन्हें पूर्व पश्चिम दक्षिण और उत्तर कहते हैं, यहां सूक्ष्म त्रिपुटि समाप्त हुई।

७ सातवें घर में सप्तकोण का आकार है जिसकी रचना इस प्रकार है कि षट्कोण के अन्त में जो आकाश विन्दु था उसने पवन विन्दु को व्यक्त किया और ७ का अंक उसका रूप हुआ, दो त्रिकोण (< >) और एक विन्दु (·) के मिलाप से सप्तकोण  का आकर सिद्ध हुआ अर्थात्

छः दिशावाले आकाश में सातवां पवन विन्दु का निवास हुआ और आकाश में जो सप्तर्षि नामवाला तारागण दिखता है वह सप्तकोण मूर्ति का साक्षी है और उसमें दो त्रिकोण और एक विन्दु प्रतीत होतेहैं, यहां से स्थूल त्रिपुटि का आरम्भ है ।

८ आठवें घर में अष्ठकोण की मूर्ति है जिसकी रचना इस प्रकार है कि सप्तकोण के अन्त में जो पवन विन्दु है उसने अग्नि के आठवें विन्दु को प्रगट किया और ८ का अंक बनाया; यह मूर्ति दो त्रिकोण (< >) और एक(–) रेखा के संयोग से बनकर  ऐसी प्रतीत होती हैं; रूप शक्ति का इस स्थान में प्रादुर्भाव है ।

९ नवें घरमें जो मूर्ति दिखती है उसकी रचना इस प्रकार हुई है कि आठवीं अग्नि के विन्दु ने जल के नवें विन्दु को प्रगट किया अर्थात् कारण सूक्ष्म और स्थूल तीन त्रिकोणों के संयोग होनेपर इस मूर्ति का प्रादुर्भाव हुआ और तीन का अंक तिगुणा होकर ९ बनगया, अब उस पहिले विन्दु ने जिसको अशून्य विन्दु कहचुके हैं अपने अधिष्ठान को छोड़कर मूर्ति को घेरलिया और अपनी जगह पृथिवी के विन्दु को देदी ।

१० दसवें घरमें जो चक्राकार है वह स्वभाव के अनुसार नवमुखी मूर्ति के फैलने से बनाहै अर्थात नवें घर की मूर्ति ने अपनी रेखाओं को अधिक करते करते चक्र की

आकृति धारण करली और मूर्ति की नव शक्तियों के गुप्त होजाने से चक्र प्रगट होगया और उसके अन्दर शून्य प्रतीत होने लगा; वास्तव में इस शून्य का भेद श्वेत पत्र से नहीं है परन्तु चक्र का होना उनमें भेद की कल्पना उत्पन्न कराता है, चक्र आकार को दिखाता है जिसमें नव शक्तियां गुप्त हैं, श्वेतपत्र निराकार को जताता है जिससे नवशक्तियों का प्रकाश हुआ है, चक्रको ही शून्य विन्दु समझना चाहिये और उसमें ऊपर लिखी हुई विधि से नव शक्तियाँ अव्यक्त होकर अवस्थित हैं इस कारण १ के अंकपर शून्य विन्दु के बढ़ाने से १० का अंक बनता है, यदि शून्य विन्दु में वह नव शक्तियाँ गुप्त नहीं तो एक के अंक का शून्य विन्दु से संयोग होनेपर १० के अंक का बनना असम्भव होजावेगा ।

९ का अंक कितना ही गुणा कियाजावे अपनी संख्या को नहीं छोड़ता अर्थात ९ को द्विगुणा करने से १८ बनते हैं जिनमें १ और ८ का संयोग होनेपर ९ का रूप बना रहता है, इसी प्रकार २७, ३६, ४५, आदि संख्याओं में अंकों के बदलनेपर भी ९ का रूप दिखता रहता है ।

पशु पक्षी और मनुष्यादिक प्राणियों के देह में ९ बड़े टुकड़े होतेहैं अर्थात् दो हाथोंके चार भाग, दो पावों के चार भाग और नवां धड़है, दसवां शिर शून्य विन्दु के समान है; सर्व ओषधियों में भी ९ पदार्थ हैं, १ बीज २ जड़ ३ तना ४ रस ५ छाल ६ शाखा ७ पत्र ८ पुष्प ९ फल अन्त में फिर बीज की उत्पत्ति है जिसे दसवाँ समझो ।

जैसे किसी चक्र की परिधि पत्र के दो भागों को प्रतीत कराती है वैसे ही आकार की कल्पना शून्य अशून्य अर्थात् जगत् और ब्रह्म में भेद दिखाती है वास्तव में भेद नहीं है।

जगत् में जितनी ईश्वर कृत सृष्टि है वह सब गोल आकार रखती हैं, देखो आकाश सूर्य्य चन्द्र तारागण पृथ्वी वीर्य अण्डा जेर जलकी विन्दु पृथिवी के परमाणु और धनुष जो वर्षाऋतु में दिखाई देती है यह सब गोल हैं और गोल आकार वाली ही वस्तु आकाश में ठहर सकती है।

इस चित्रके प्रथम घर में जो अशून्य विन्दु (·) दिखाई है वह ॐ की अर्धमात्रा का स्वरूप है।

दूसरे घर में जो रेखा (।) दिखाई है वह ॐ के आकार का स्वरूप है।

इसके नीचे के घर में जो त्रिकोण (>) बनाहै वह ॐ के उकार का रूप है।

चौथे घर में जोवर्ग (□) की मूर्ति है वह ॐ के मकार का रूप है।

इस प्रकार ॐकार के चार पाद ऊपर वर्णन की हुई आकृतियों को समझाते हैं और उन से सर्व जगत् की उत्पत्ति सिद्ध होती है।

प्रथम चित्र के सातवें घर में और इस चित्रमें जो विधिके अंक दिखाये गये हैं उनका विस्तारपूर्वक वर्णन इस प्रकार है–

अशून्य विन्दु को कला समझो; रेखा को नाद और त्रिकोण मूर्ति को विन्दु; कला के अर्थ ज्ञान अथवा तेज के हैं;

नाद के अर्थ शक्ति अथवा प्रकाश के हैं और विन्दु के अर्थ आकार अथवा रूप के हैं ।

पहिली त्रिपुटि में १ कला (·) २ नाद (।) ३ विन्दु () यह तीन भाव सिद्ध होते हैं; दूसरी त्रिपुटि में ४ कला () ५ नाद () ६ विन्दु () और तीसरी त्रिपुटि में ७ कला () ८ नाद ( ९ विन्दु ( प्रगट हो जाते हैं इनके एकत्र होने से दसवां शून्यविन्दु (०) स्थूल देह प्रत्यक्ष होता है और देह से बाणी और वेद निकलता है इस कारण पहिले नाद और पीछे वेद कहागया है; ऊपर के नव आकारों में से चार अन्तःकरण चित अहं बुद्धि और मन अव्यक्त हैं और पांच महाभूत मूर्तिमान् हैं, इन पंचमहाभूतों को पंच ब्रह्म भी कहते हैं और आत्मा की पंचकलायें इन नामों से प्रसिद्ध हैं ।

१ ज़ीवात्मा २ आत्मा ३ भूतात्मा ४ विश्वात्मा ५ परमात्मा ।

१ जीवात्मा–विश्वात्मा और भूतात्मा के अंशभाव के सम्बन्ध का नाम है और इसका माया के चौबीस अंश में अधिष्ठान है ।

२ आत्मा–शब्द विश्वात्मा के अंश को जताता है और देहधारी में इसका लक्ष अहङ्कार है और यह मायाके सत्रह अंश का साक्षी है ।

३ भूतात्मा–पंचमहाभूत और उनके गुणों के समूह का नाम है जिनसे सारी जड़ वस्तुओं की उत्पत्ति है ।

४ विश्वात्मा–ईश्वर का स्वरूप और सर्व जगत् को

चैतन्यता देनेवाला है।

५ परमात्मा—केवल अथवा शुद्धब्रह्म का नाम है जिसका वर्णन अद्वैत अखण्ड अचिंत्यादि शब्दों से किया जाता है।

पहिला चित्र के सातवें घर में जो १ से १० तक अंक दिखाये जाचुके हैं और इस चित्रमें भी ऊपर वर्णन कियेहुए आकारों के समीप दृश्यमान् है उनका विस्तार अंशांशि और सन्धिकी युक्ति से इस प्रकार किया जाता है।

सबसे ऊपर जो विन्दु है वह १ अंशि है और उसनें चैतन्य की सन्धिद्वारा अहंकार को व्यक्त किया है जिसका नाम प्रथम अंश है।

दूसरे घर में जो रेखा है वह २ अंशि है और उसने अहंकार की संधि द्वारा बुद्धि को प्रकाश दिया है जो दूसरा अंश कहलाता है।

तीसरे घर में जो त्रिकोण है वह ३ अंशि है और उसनें बुद्धि की संधि द्वारा मन को उत्पन्न किया है जिसका नाम तीसरा अंश है।

इस प्रकार तीन अंशि तीन संधि और तीन अंश अथवा नव अव्यक्त शक्तियों के प्रभाव से दसवाँ स्थूल देह बनता है और आकार व्यक्त होजाता है, यह दस विभाग स्वभाव के अनुसार ज्ञान के अंग हैं और तीन संधियों ने केवल अंशि से चैतन्य अहंकार बुद्धि और मन के पाँच अंशि प्रतीत कराये हैं जिनसे पंचमात्रा और ज्ञानेन्द्रिय की उत्पत्ति हुई है।

पांच अंशियों का प्रतिबिम्ब पड़ने से पांच महाभूत प्रगट

हुएहैं और इन्होंने पंच प्राण और पंच कर्मेन्द्रिय को उत्पन्न किया है ।

पंच बिम्ब और पंच प्रतिबिम्ब के संयोग से दस आकार बनते हैं जिन्हें इस चित्र में ऊपर की विन्दु से नीचेवाले शून्यतक दस अंक द्वारा दिखाया है उनका बिभाग इस प्रकार है; १ से ८ तक आठ अंशि होते हैं और २ से ६ तक आठ संधियाँ पड़ती हैं और ३ से १० तक आठ अंश बनते हैं; इन सब के जोड़ने से माया की २४ कला प्रतीत होती हैं ।

अंशियों का सात्विक भाव है संधियों का राजसी रूप है और अंशों का तामसी आकार है ।

अंशि संधि और अंश में से प्रत्येक के आठ२ रूप होनें के कारण प्रकृति अष्टधा कहलाती हैं ।

आठ अंशियों में से प्रथम चार में देश और काल का भेद नहीं है अर्थात् वह एक लक्ष को चार प्रकार दिखाते हैं और उनका विस्तार ऐसे समझना चाहिये ।

१ विन्दु उस परमात्मा का चिन्ह है जिसका वर्णन शुद्ध ब्रह्म महेश और केवलादि शब्दों से किया जाता है और जिसका आदेश शङ्ख नाद द्वारा प्रगट होता है ।

२ रेखावाला आकार ईश्वर अथवा विष्णु के स्वरूप को जताता है जो चक्रधारी हैं ।

३ त्रिकोण की मूर्ति शिव के अधिष्ठान् को बतलाती है जो कालरूपी गदा धारण किये हुए है ।

४ वर्ग अथवा चतुर्कोण ब्रह्मा के लक्ष को दर्साता है जो

विद्यारूपी पद्म से शोभित है।

(५-८) अन्य चार अंशियों ने चतुष्ठ अन्तःकरण का रूप धारण किया है।

(१-८) आठ संधियों के पड़ने से पंचमात्रा और ज्ञानेंद्रिय अर्थात् दस शक्तियाँ उत्पन्न हैं।

(१-८) आठ अंश के प्रभाव से पंचकर्मेंद्रिय और पंच महाभूत अर्थात् दस स्थूल आकार रचे जातेहैं।

४ अन्तःकरण ५ तन्मात्रा ५ ज्ञानेन्द्रिय ५ कर्मेन्द्रिय और ५ महाभूत के समूह से माया के २४ अंश सिद्ध होते हैं जो बैजयंतीमाला के मणियों के समान एकसूत्र में पिरोये हुए हैं, पच्चीसवां सर्वका साक्षी है जो चार स्वरूप रखने पर भी एक बनारहता है और चतुर्भुजी कहलाता है और सारे आकारों को प्रकाश देताहुआ नित्य निराकार और असंग रहता है।

जैसे किसी वस्तु को जल में डालने से पहिले एक छोटा सा लहर का चक्र प्रतीत होकर जल के अंत तक घेरा बांधता हुआ चलाजाता है और यदि उसमें एक से अधिक वस्तु एकही समय फेंकदीजावे तो उतने ही लहरों के चक्र उत्पन्न होकर परस्पर मिलजाते हैं और अनेक आकार बनाते हैं इसी प्रकार 'एकोऽहंबहुष्यामः, श्रुतिद्वारा केवल आत्मा से आकृतियों की लहरें उठकर देह के तटतक पहुंचती हैं और इन का बेग नीचे के यंत्रसे विस्तार पूर्वक समझ में आसकताहै; ऋग्वेद के पुरुषसूक्त ने जिस लक्ष को सहस्रशीर्षा पुरुषादि

वाक्यों से कथन कियाहै उसके अर्थ इस यन्त्र के विचारने से अनन्तरूप के प्रतिपादक निश्चय होंगे ।

कारण	१ केवल	२ ज्ञात	३ ज्ञेय	४ ज्ञान	५ ज्ञाता	६ चैतन्य	७ अनुभव	८ श्रुति	९ शब्द	सत्व
सूक्ष्म	१० स्पर्श	२० रूप	३० रस	४० गंध	५० अहंकार	६० चित्त	७० बुद्धि	८० मन	९० आकाश	रजः
स्थूल	१०० पवन	२०० अग्नि	३०० जल	४०० पृथिवी	५०० समान	६०० प्राण	७०० अपान	८०० व्यान	९०० उदान	तमः
	१००० देह									

पंचज्ञानेन्द्रियाँ पंचमात्रा के अन्तरगत हैं और पंचकर्मेन्द्रियाँ पंचप्राणों में मिश्रित हैं।

१ के अंकपर ००० विन्दु के अधिक होने से १००० का अंक बनताहै इसी प्रकार और विन्दुओं के बढ़ाने से अनंत संख्या सिद्ध होती हैं जिसको मनुष्य बुद्धि ग्रहण करने के असमर्थ होजाती है, यह बात प्रत्यक्ष प्रमाण भी है कि एक का जानना बिना तीन भावों के सिद्ध नहीं होता कि दर्शन के लिये द्रष्टा और दृश्य का होना अवश्य है, ऐसे ही प्रत्येक दृश्य का त्रिगुणात्मक रूप है अर्थात् किसी श्वेत पत्रपर एक विन्दु अथवा एक रेखा अथवा एक मूर्ति के बनाने से उस पत्र के दो भाग दाहें और बाहें प्रतीत होने लगते हैं और सम्पूर्ण तीन आकार सिद्ध होते हैं ।

यदि शून्य विन्दु के अर्थ किसी से पूछे जावें तो वह कुछ नहीं बतलाता है परन्तु यह विचार नहीं किया जाता कि

कुछ नहीं कहना किस आशय को जतलाता है; विन्दु सन्मुख प्रतीत होती है और उसके होनेमें शङ्का करना प्रत्यक्ष प्रमाण के विरुद्ध है; वास्तव में विन्दु के अन्दर जो शून्य है वह ऐसे अव्यक्त लक्ष को दिखाता है जहाँ इन्द्रियों की गम नहीं है इसी कारण उसका नाम कुछ धरा जाता है; विन्दु का चक्र शून्य को घेरता हुआ व्यक्तभाव को दर्साता है जो नाशमान् है और जिसे नहीं कहना उचित है तात्पर्य यह है कि शून्य विन्दु कुछ है जो दृष्टिगोचर नहीं है और इसके १ के अंक के समीप होनेपर १० बनजाते हैं अर्थात् शून्य विंदु में ९ अङ्क छुपेहुए रहते हैं।

अग्निमें जैसे दाह की शक्ति और जल में शीतलता स्वाभाविक है इसीप्रकार आत्मदेव में जगत् के व्यक्त करने का अनादि स्वभाव है परन्तु अनादि शब्द के अर्थ बुद्धि और प्रकार समझती है अर्थात् उस शब्द को सुनकर भूतकाल की ओर जाती है ऐसेही अनंत शब्द के सुननेसे बुद्धि भविष्यत्काल के ओर देखती है यथार्थ में अनादि और अनंत दोनों शब्द वर्तमान अवस्था के साक्षी हैं; अनादि उसे कहते हैं जिसमें आद का संकल्प असंभव है और अनन्त उसको जताता है जिसके अन्त की कल्पना मिथ्या है; ज्ञान चक्षु आत्मा को नित्य एकसा देखता है और उसको आद और अन्त की भावना नहीं होती।

विचार करना चाहिये कि दीपक में जो ज्योति दिखाई देती है वह कहाँसे आती है और दीपक के बुझने पर वह

कहाँ चलीजाती है; जब किसी मिट्टी के भांडे में तेल और रुई एकत्र किये जातेहैं और रुई के समीप अग्नि लाई जाती है तो उन दोनों वस्तुओं में अग्नि की विशेषता होनेके कारण ज्योति प्रगट होजाती है, वास्तव में अग्नि के परमाणु जो आकाश में अव्यक्त रूप से भरेहुए हैं दीपक की अग्नि उन का आकर्षण करके ज्योति को व्यक्त करदेती है, जहाँसे वह परमाणु खिचआते हैं जलके परमाणु वहाँ भरजाते हैं और प्रकाश का रूप धरलेते हैं इस प्रकार ज्योति और प्रकाश की उत्पत्ति है, दीपक की ज्योति जिसका अंगुष्टमात्र परिमाण होताहै चालीस हाथ की दूरीतक अग्नि के परिमाणुओं को खेंचकर प्रकाश फैलाती है इस प्रकार जितनी बड़ी ज्योति होतीहै उतनेही दूरतक प्रकाश जाताहै, दीपक के बुझने पर अग्नि के परिमाणु लौटकर अपने स्थानपर आजाते हैं और जलके परिमाणु अपनी जगह पर सिमट कर पहुँच जाते हैं; ज्योति की उत्पत्ति और लय माया के विशेष और सामान्य भाव को जताते हैं और इस कारण बुद्धि आदि और अन्त की कल्पना करके आत्मा में वैसाही अध्यास करती है अर्थात् देह रूपी भांडे में प्राण रूपी तेल औरजठराग्नि रूपी बत्ती के संयोग होने पर ज्ञानाग्नि के स्पर्श से चैतन्यता की ज्योति उत्पन्न होतीहै और अन्तःकरण और इन्द्रियों को प्रकाश देतीहै प्राण के वियोग से चैतन्यता की ज्योति अपने अधिष्ठान पर जा ठहरतीहै और प्रकाश देनेका कार्य छोड़ देतीहै ऐसा संयोग और वियोग का चक्र सदा चलता रहता है और

किसी वस्तु का नाश नहीं होता; आत्मा इस चक्र से बाहर रहकर चैतन्यता को प्रगट करती है और लय कर देती है और अकाल रूप होनेसे अनादि और अनन्त कहलाती है ।

इस चित्र के दाहें ओर जो विधि के आकार हैं उनका वर्णन इस प्रकार है—

१ के अंकके सामने एक मटियाले रंगका छोटासा गोला है जो पृथिवी का आकार और कुवेर देवता का रूप है ।

२ के अंकके सामने जो नीले रंगका गोला है और जिसमें पृथिवी का गोला अन्तर्गत है वह बरुण देवता की मूर्तिहै ।

३ के अंकके सामने जो लाल रंगका गोलाहै और जिसमें पृथिवी और चन्द्रमण्डल मिश्रितहैं वह अग्नि देवताका रूपहै इसीको प्रजापति त्रिलोकी और स्थूल त्रिपुटि भी कहते हैं ।

४ अंक के सामने जो हरे रंग का गोला है और स्थूल त्रिपुटि जिसके अन्तर्गत है वह मरुतदेव का रूप है ।

५ अंक के सामने जो नीले रंग का गोलाहै और जिसमें ऊपर का आकार अन्तर्गत है, रुद्र देवता का रूप है ।

६ अंक के सामने जो मन आकाश और पवन तीन चक्रों का समूह है वह इन्द्र देवता का रूप और सूक्ष्म त्रिपुटि कहलाता है ।

७ अंकके सामने जो सातों चक्रोंका समूह है वह वासुदेव का स्वरूप है जिसे ब्रह्म चक्र कहते हैं ।

८ अंक के सामने जो चैतन्य अहंकार और बुद्धि तीनों रंग का समूह है वह पुरुष का स्वरूप है और कारण त्रिपुटि

कहलाता है ।

९ के अंक के सामने जो बारह रेखा की मूर्ति है वह देश का रूप है ।

१० के अंक के सामने जो चक्र बनाहुआ है वह काल का रूप है ।

जो आकारों के रंग दिखाये गयेहैं वह आकृति अनुसार हैं और स्फटिक मणि को तोड़कर देखाजावे तो उसमें यही रंग दिखाईदेंगे; वास्तव में एक तो श्वेत चमकता हुआ और चार लाल, पीला, नीला और काला रंगहैं अन्य रंग इनके परस्पर मिलाप से बनतेहैं ।

श्वेत वर्ण प्रथम अशून्य विन्दु का चमकता हुआ रूप है जिसमें कोई रंग प्रतीत नहीं होता ।

२ ऊपर के आकार से जो चमक की किरणें निकलती हैं उनका पाटल अथवा हलका लाल रंग होताहै और इस कारण उसे चैतन्य का रंग मानाहै ।

३ कत्थई रंग लाल और पीले रंगोंके मिलाप से बनता है जिसे अहंकार का रंग माना है ।

४ पीला रंग बुद्धि का मानागया है ।

५ मन का काला रंग है परन्तु बुद्धि के पीले रंग के प्रतिबिम्ब पड़ने से धुवेंकासा दिखाई देताहै ।

६ नीला रंग आकाश का है ।

७ हरा रंग पवन का है जो बुद्धि के पीले और आकाश के नीले रंगों के संयोग से बनता है ।

८ गहरा लाल रंग अग्निका है जो चैतन्यके पाटल और बुद्धि के पीले रंग के मिलने से दीप्तमान होता है।

९ हलका नीला रंग जलका है जो आकाश के नीले रंग में श्वेत का भास पड़ने से बनता है।

१० मटियाला रंग पृथिवी का है जो बुद्धिके पीले और अग्निके लाल और मनके काले तीन रंगके मिलापसे बनाहै।

इसीप्रकार रंगों के मिलाप से अनेक अन्य रंग उत्पन्न होजातेहैं जो प्रकृति का स्वभाव है; यहांतक विधि अथवा उत्पत्ति का प्रकरण समाप्त हुआ।

अब लय का वर्णन निषेध युक्ति से कियाजाताहै; कर्म द्वारा जगत् की उत्पत्ति प्रतीत होतीहै और यत्नद्वारा जगत् का भाव लय होजाता है।

इस चित्र के बाईं ओर नीचेसे लेकर ऊपर तक १ से १० अंकहैं और उनके समीप देहसे विज्ञानतक १० शब्द लिखेहैं और उनके सन्मुख भिन्न २ रंगों के १० चक्र बने हुए हैं; अंक लय चिन्तन के अधिष्ठानों को दिखाते हैं और शब्द यत्न की युक्तियों को व्यक्त करते हैं और चक्र उनकी मूर्तियों को समझातेहैं।

१ देह सर्वउपाधि सहित जीवकी अवस्थाको दिखलाताहै।

२ शब्द प्राण का कार्य है जिससे देह की स्थिति है और जो देह से श्रेष्ठ है कारण यह कि महावाक्य की धारणा से अन्तःकरण की शुद्धि होतीहै और इन्द्रियाँ निर्मल होकर बश में आजाती हैं।

३ स्मृति शब्द से उत्तम है और वह चित्त का व्यापार है जिसे भाषा में सुरत भी कहतेहैं सुरत शब्द से विमुख होकर देह की ओर जाती है शब्द पर उसको लगाने से देह का अभिमान छूटजाता है और एकाग्रता उत्पन्न होजातीहै।

अनुभव श्रुतिके एकाग्र होनेपर प्रगट होताहै जिसका नाम ज्ञान चक्षु है उसकी सहायता से चैतन्य की वह सूक्ष्म आकृतियाँ प्रतीत होती हैं जिनको बुद्धि ग्रहण नहीं करसक्ती।

५ चैतन्य का लक्ष अनुभव से जाना जाता है कि अनुभव चैतन्य का कार्य है।

६ चैतन्य अपनी शक्तिद्वारा दृष्टा, श्रोता, वक्ता, भोक्ता कर्ता, धर्ता और ज्ञाता सिद्ध होता है।

७ ज्ञान की विन्दु से दो रेखा उत्पन्न होती हैं, नीचे की ओर ज्ञाता है जो संसार का दृष्टा है; ऊपर की ओर ज्ञेय स्वरूप है जिससे ज्ञान को प्रकाश हुआ है।

८ ज्ञेय अधिष्ठान ज्ञान त्रिपुटि का है और उसका त्रिगुणात्मक स्वरूप है।

९ ज्ञात अवस्था ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय की एकता का नाम है और इस अवस्था में स्फुरति नहीं रहती।

१० विज्ञान पद परमानन्द का दायक है और वह ज्ञात अवस्था के परिपक्क होने से प्राप्त होता है॥

दस रंगों के चक्रों में से पहिला चक्र पृथिवीका है दूसरा जलका, तीसरा अग्निका, चौथा पवनका, पाँचवाँ आकाशका, छठा मन का, सातवाँ बुद्धि का, आठवाँ अहङ्कार का, नवाँ

चैतन्य का, दसवाँ चक्र जिसका कोई रंग नहीं केवल आत्मा को जताता है; पृथिवी को जल में और जल को अग्नि में, अग्नि को पवन में और पवन को आकाश में यत्नद्वारा लय करने से मनका रूप जाना जाता है इसके पीछे मन बुद्धिमें लय कियाजाता है और बुद्धि के शुद्ध होनेपर इतर तीनों आकारों का भेद खुलजाता है; पृथिवी से बुद्धि तक सात भूमिका होतीहैं और इस युक्ति को ज्ञान योग अथवा विहङ्गममार्ग कहते हैं, उसकी सहायता से जीवरूपी पक्षी देह के पिंजरे से निकलकर अपने स्थान को जहाँ केवल आत्मा का निवास है उड़जाता है; अनेक महात्माओं ने नवीन और प्राचीन ग्रन्थों में चन्द्र सूर्य्य और इन्द्रादिक लोकों में जो अपने जानेका वृतान्त लिखाहै उसका प्रयोजन यह नहीं है कि उनके देह अर्थात् स्थूल मूर्तियाँ वहाँ किसी प्रकार उड़ कर पहुंचीथीं परन्तु उन्हों ने अपने अन्तर चिदाकाश के दर्पण में सर्व आकारों की चित्रों को देखाथा और इस जगत् की उत्पत्ति के स्वभाव को भली रीति से पहिचाना था।

मन माया की ग्रन्थि है जिसमें एक ओर से चिदाकाश का प्रतिबिम्ब पड़ता है और दूसरी ओर से भूताकाश का चित्र सूक्ष्म रूप से खींचता है परन्तु मन का स्नेह इन्द्रियादिक और उनके विषयों के साथ ऐसा होरहा है जैसे गृहस्थी को अपने परिवारके साथ होता है इसलिये उसे भूताकाश की चित्र को देखे बिना चैन नहीं पड़ता और वह अपनी शून्य अवस्था में ठहर नहीं सक्ता, वह संकल्प द्वारा किसी

न किसी विषय में सदा लगा रहताहै यहाँतक कि ऐसा करना उसका स्वभाव ही होजाता है, स्वप्न अवस्था में जब उसको जगत् के विषयों का प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होता तो वह अपने मनाकाश में उनकी सूक्ष्म चित्र रचता है और उस का स्मरण करता रहता है; मन के विषयों में सदैव मग्न रहने से विषयों का भाव सत्य प्रतीत होने लगताहै, चिदाकाश का प्रतिबिम्ब जो मनमें रहताहै उसपर भूताकाश की चित्र बनकर द्वन्द को उत्पन्न करती है और द्विविधा की मूर्ति को रचती है अर्थात् मनके एक पत्र पर दो मूर्तियों के बनने से दोनों के आकार शुद्ध दिखाई नहीं देते; ऊपर वर्णन की हुई लय की युक्तिद्वारा मनाकाश से भूताकाश की चित्र मिटजाता है और शून्य अवस्था होजाती है परन्तु वह अवस्था मनको नहीं भाती, जैसे कोई जंगली हिरन पकड़ लिया जावे तो वह जंगल की ओर रस्सी तुड़ाकर भागना चाहताहै ऐसेही मन शून्य अवस्था से इन्द्रियों और विषयों की ओर दौड़ता है और बल करताहै, यदि पूर्व संस्कार के प्रभाव और किसी महात्मा के अनुग्रह से शून्य की अवस्था में मनकी स्थिति यत्नद्वारा प्राप्त होजावे तो भूताकाश की मूर्ति सम्पूर्ण मिटजाती है और चिदाकाश की विलक्षण मूर्तियाँ दिखती हैं जिनको देखते हुए मन आनन्दित होताहै और विषयानन्द को तुच्छ जानकर फिर उधर नहीं जाता, जब मनकी आशक्ती प्रपञ्च में नहीं रहती तब उसका नाम हृदय और स्थान चिदाकाश होजाताहै ।

प्राचीन ऋषियों और महात्माओं ने आकाश की पुस्तक में सूर्य चन्द्र और तारागण के अक्षरों, ब्रह्माकृति की पंक्तियों और प्रपञ्च की चित्रों को अंक विद्या द्वारा देखा और विचारा है ज्योतिषगणित और ब्रह्मविद्यादिक को प्रगट कियाहै जिनके प्रमाणों का ठीक होना तारागण के उदय अस्त और सूर्य चन्द्र ग्रहणादिक से निश्चय किया जासकता है, वह महापुरुष विश्व और तेजस दोनों अवस्थाओं के देखनेवाले थे इस कारण जो उनका वर्णन है वह विश्वमात्र के द्रष्टाओं की समझ में नहीं आता और उनको अनर्थ प्रतीत होता है अर्थात् चिदाकाश के वृतान्त को बुद्धि विश्वाकार में सिद्ध करना चाहती है सो कैसे बने।

अब दो यंत्र एक १ से १० का दूसरा ११ से ३० तक का विवेकवान पुरुषों को प्रकृति का विस्तार समझनें के लिये दिखाये जाते हैं कि उनसे बुद्धि पुष्ट होती है और उसकी विचारशक्ति बढ़सकती है; इतना कहकर पाराशर मुनि ने अपना व्याख्यान समाप्त किया और शिवजी से अभिलाषा की कि अब आप सभाको अपनी मूर्ति का दर्शन कराइये।

जितंते पुण्डरीकाक्ष नमस्ते विश्वभावन।
नमस्तेऽस्तु हृषीकेश महापुरुष पूर्वज॥

सदक्षरम्ब्रह्म यईश्वरःपुमान्
गुणोर्मिसृष्टि स्थितिकालसंलयः ।
प्रधानबुद्ध्यादि जगत्प्रपञ्चसूः
सनोऽस्तुविष्णुर्मति भूतिमुक्तिदः ।

हिरण्य गर्भ

शिवजी ने उत्तर दिया कि हे पराशर मुनि मैं तो अपने स्वरूप के आनन्द में सदा मग्न और उनमत्त रहताहूं और मुझे अपने पराये बनने बनाने और देखने दिखाने की किञ्चित् भावना नहीं होती परन्तु तुम्हारी आज्ञा पूरी करनेके निमित्त इतना कहता हूं कि मेरे प्रथम आकार का गौर अथवा श्वेत वर्ण और सतोगुण नाम है दूसरे आकार का लाल रंग और रजोगुण नाम और तीसरे आकार का कत्थयी रंग और तमोगुण नामहै चन्द्रमाकासा चिन्ह रखनेवाली ॐकी अर्धमात्रा मेरे माथेपर चमकती है और लाल और कत्थयी रंगकी आँखे हैं जिनके परस्पर संयोग से (△) त्रिकोण का आकार बनता है और मैं त्रिशूलधारी और त्रिनेत्र कहलाताहूं ऊपर एक श्वेत बिन्दु और नीचे लाल और कत्थयी दो बिन्दुओं के चिन्ह होने के कारण पर्वतोंको मेरा रूप और स्थान मानतेहैं

ज्ञान त्रिपुटी में मेरा नाम महेश है और सूक्ष्म त्रिपुटि में मुझे शिव कहतेहैं और स्थूल त्रिपुटिमें मैं रुद्र कहलाताहूं-

श्रीविष्णुजी ने और तुमने जो मूर्तियां सभाको दिखलाई उनसे सत् शब्दका अर्थ खुलताहै मेरे स्वरूपका अधिष्ठान तत्पद हैकि मैं अमूर्त और अचिन्त्यहूं और अकाल रूप होकर सर्वके लय होजाने पर आनन्द पूर्वक रहताहूं अर्थात मेरी तमोगुणी शक्ति बड़ी बलवानहै जिसके हाथ से कोई वस्तु और आकार नहीं बचसक्ता, मेरे स्वरूपको हिरण्यगर्भ कहतेहैं जिसमें जगत्के सर्व पदार्थोंका ज्ञानमयी बीज रहताहै और वह राजसी आकृति द्वारा उन पदार्थों को व्यक्त करके तामसी शक्ति के प्रभाव से

फिर अव्यक्त अवस्थाको पहुंचताहै सोमैं हिरण्यगर्भदेवको आज्ञा देताहूं कि वह अपना अथवा मेरा रूप सारीसभाको दिखादेवें—

तब हिरण्यगर्भ ने वह मूर्ति जो चौथा चित्रमें बनीहै दिखाई और कहा कि वास्तव में मेरी मूर्ति का कोई आकार नहीं है और जो उसका वर्णन वेद उपनिषदादिक में हुवाहै वह अति गूढ़ होने के कारण समझ में नहीं आता परन्तु मैं उस सूक्ष्म अवस्थाको विन्दुरेखा और अंक द्वारा समझताहूं जिनपर विचार करने से मेरे स्वरूपका अनुभव होसक्ता है इस चित्र में जो चक्र दिखते हैं वह श्वेतपत्र पर खिंचे हैं और उनके ऊर्ध्व भाग में बिंदु और अधः भागमें रेखा हैं बिन्दु और रेखा सर्व पदार्थों के ज्ञान मयी बीज को बताते हैं और चक्रों के रंग प्रकृति के प्रादुर्भाव को समझाने के लिये दिखाये जाते हैं—

मेरे ज्ञान मय कोश में अनन्तकोटि सूर्य का तेज भराहुवा है जिसमें से इच्छाकी पवन के चलने पर संख्यातीत चिंगारियाँ निकलती हैं और अनेक ब्रह्माण्डों को रचती हैं इसलिये मेरा नाम हिरण्यगर्भ अर्थात् सोने का अण्डा कहा जाता है और मेरा रूप सूर्य माना जाता है—

मेरे अनादि ज्ञान में जैसा बुद्धी का रूप है वैसाही उस का चक्र बनता है और जैसे मन आकाश पवन अग्नि और पृथवी के रूप हैं वैसेही उनके चक्र बनते हैं और उनके परस्पर संयोग से अन्तःकरण और इन्द्रियां और पंच महाभूत के रूप प्रतीत होजाते हैं—

जीवहोकर देहमें प्रवेश करना मेरा आश्चर्यवत कार्य है अर्थात चैतन्यसे जो इच्छा की लहर उठती है वह मेरे चक्र में से होती हुई बुद्धि के चक्र में पहुंचती है और एक अणुसी बिंदु

बनादेती है और उसमें से एक आकर्षण शक्तिरूप रेखा उत्पन्न होकर और मनके चक्र में पहुँचकर दूसरी बिन्दु को बनातीहै इसी प्रकार मनकी बिंदुसे एक रेखा आकाश के चक्र में जाती है और वहाँ से पवन अग्नि और जल और पृथवी के चक्रों में पहुंचकर बिन्दु और रेखाओंको बनादेती है अब बुद्धिकी बिन्दुसे और रेखायें निकलकर आकाश से पृथवी तक जितनी बिन्दु हैं उन सबमें संयोग करलेती हैं इसी प्रकार मन आकाश पवन अग्नि और जलकी बिन्दु अपने से नीचेवाली बिन्दुओं से सम्बन्ध करती हैं इन क्रियाओं से एक सूक्ष्म आकार बनजाता है जैसा चित्र में दिखायागया है और जिस में सिर हाथ पाँव और धड़ के चिन्ह प्रतीत होते हैं—

मनके चक्र में जो बुद्धि की रेखाओं से पाँच घर बनते हैं उनमें पंच मात्रा शब्द स्पर्श रूप रस गंध प्रगट होजाते हैं और आकाश के चक्र में जो पाँच घर रेखाओं से बनते हैं उनमें पांच प्राण १ समान २ प्राण ३ अपान ४ व्यान और ५ उदान उत्पन्न होजाते हैं इन दसके साथ पंच महाभूत के सूक्ष्म रूप और मन और बुद्धि के मिलने से १७ तत्व का लिंग शरीर बनता है जो देह के मरने से मृत्युको प्राप्त नहीं होता परन्तु पंच भौतिक देह को अपने संकल्प और कर्मानुसार त्यागकर अन्य देह को नये वस्त्रों की भांति धारण कर्ता रहता है इसीको अविद्याकी ग्रन्थि समझना चाहिये और यह सर्व जन्तुओं में एकसी अवस्थित है यहाँ तक उत्पत्ति का प्रकरण समाप्त हुआ इस अविद्या की ग्रन्थि का खुलना बिना ज्ञान के कदाचित् सिद्ध नहीं होता जिस कारण मैं अपनी दूसरी मूर्ति को लय की युक्ति से दिखाता हूं।

॥ अश्वत्थ वृक्ष ॥

पांचवें चित्रमें जो ऊर्ध्वमूल अधः शाखा सहित वृक्ष बना हुआ है वहभी मेराही रूपहै और उसका वर्णन उपनिषदों में और भगवद्गीता की पन्द्रहवीं अध्याय में लिखागया है परन्तु उसके अर्थका यथावत् समझना कठिन है इसहेतु से मैं उस वृक्षकी मूर्ति आप लोगोंको दिखाताहूँ और संक्षेपसे कहेदेता हूं कि विष्णु भगवान ने जो सभा को अपनी पहला चित्र दिखायाथा उसमें चैतन्यकी अशून्यबिन्दु सबसे ऊपर है और सर्व प्रकृतियोंके चक्र नीचेकी ओर बने हुवे हैं यदि ओंकारका रूप देखा जावे तो उसकी अनुस्वार बिन्दु भी जड़के तुल्य ऊपर दृश्यमान है और अकार उकार और मकार शाखाओं की भांति नीचेकी ओर फैले हुवे हैं—

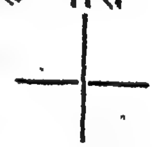
मनुष्य देहको ऊर्ध्वरेखा कहते हैं कारण यहहै कि इसका सिर जड़के समान ऊपर है और हाथ पाँव और धड़ शाखा और तने के सदृश नीचेकी ओर हैं और यही अनुभवी वृक्ष है जिसका विस्तार चित्र द्वारा आपको दिखाया जाता है अर्थात चैतन्यरूपी भूमिसे ॐकार मय जड़ फूटी है और उसके सतोगुणी भाग अन्तःकरण चतुष्टय के रूप में प्रगट हुवेहैं और तने से पंच प्राणोंके रजोगुणी आकार उत्पन्न हुवे हैं और शाखायें तमोगुणी रूपसे फैलकर पंचमात्रा पंचज्ञानेन्द्रिय पंच कर्मेन्द्रिय और पंचमहाभूत के विभागको सिद्ध करातीहैं इस चित्रमें मनुष्यका आकारतो वाह्यभावको दिखाताहै और वृक्षकी मूर्ति आन्तर्य अवस्था को जताती है वास्तव में

मनुष्यका शरीर ऊपर से नीचे की ओर फैला होता है और वृक्ष नीचे से ऊपर की ओर बढ़ता और फैलता हुवा जाता है इस कारण अनुभवी पुरुषों ने मनुष्यकी आन्तर्य अवस्था को उलटे वृक्षकी उपमा देकर समझाया है यदि आप इस चित्रमें मनुष्य के आकार को विचारेंगेतो आपको प्रथम चित्रके अनुसार सत् शब्दका अर्थ खुल जावेगा और जो आप वृक्षके रूप का अनुभव करेंगे तो चौथा चित्रके अनुकूल तत् शब्द के लक्ष का ज्ञान होगा सारांश यह है कि ॐकारकी त्रिगुणात्मक मूल को असंग शस्त्रसे काटकर उसकी अर्ध मात्रा के अशून्य बिन्दु में लय होने से परम पदकी प्राप्त होती है कि वह बिन्दु गुणातीत और स्वयं प्रकाश है और उसमें लीन होने से १७ तत्व के लिंग शरीर की कल्पना जो बुद्धि से उठती है मिटजाती है इतना वर्णन करके हिरण्यगर्भ देवने ब्रह्माजी से प्रार्थना की कि अब आप कृपा करके सब लोगों को अपनी मूर्तिका दर्शन देवें--

॥ ब्रह्म विद्या ॥

श्री ब्रह्माजीने हिरण्यगर्भ देवकी इच्छा पूर्ण करने के निमित्त अपने स्वरूप को छटा चित्र द्वारा सभा के मध्यमें दिखाया और वर्णन किया कि पहला तीन चित्रोंके देखने से सत् शब्द के अर्थ और चौथी और पांचवां चित्र के देखने से तत् शब्द के अर्थ समझ में आये होंगे अबमैं इस मूर्ति में ॐ के स्वरूपको विस्तार पूर्वक दिखाता हूं और उसके गूढ वृत्तान्त को सुनाताहूँ अर्थात विष्णुके चक्र और शिवके त्रिशूलका वर्णन ऊपर के पांच चित्रों में होचुका है मेरी इस छटी चित्रसे तुम्हें वर्ग अथवा चतुर्मुखी देवका स्वरूप सिद्ध होगा, विष्णु की सात्विक शक्ति आदिमें है और शिवकी तामसी शक्ति अंत में है और वह दोनों अव्यक्त हैं मेरी राजसी शक्ति मध्य मे व्यक्त रूप से प्रतीत होती है—

ओंकार मेरा स्वरूप है और उसकी उत्पत्ति इस बिधिसे हुई है--

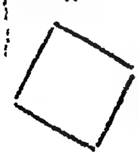
पहले अर्ध मात्रा की बिन्दु से स्वभाव के अनुकूल चारों ओर अनेक बिन्दु फैलगयीं और उन्होंने ऐसा चिन्ह  श्वेत पत्र पर रचा—

दूसरे आकार के पाटल स्थान से रेखाओं ने चारों ओर फैलकर ऐसा रूप  प्रगट किया

तीसरे उकार के कत्थयी रंगके देशमें बिन्दुवों और रेखाओं के



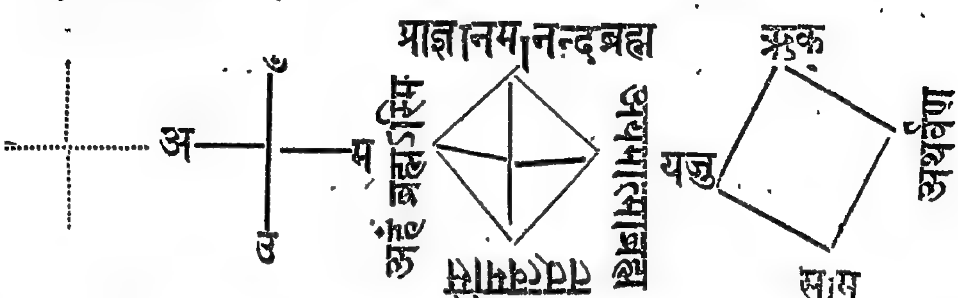
सम्बन्ध से ऐसी मूर्ति सिद्ध हुयी—



चौथे मकारके पीले अधिष्ठान मे रेखावोंके संयोगसे ऐसी वर्गकी मूर्ति व्यक्त होगयी, इन चार अक्षरोंके मिलनेसे ओंकार सिद्ध हुवा है और उसका तेज स्वरूप

और सत्य लोक स्थान है--

ऊपर के चार आकारों का रूप अक्षरानुसार इस प्रकार दिखाया जाता है--



इन चारों के चौगुणा करनेसे सोलहपाद बनतेहैं जिनका बृत्तान्त उपनिषदादिक में बहुत भांति से लिखा है और शुद्ध विचार से समझ में आता है--

ॐ से चतुष्ट अन्तःकरण सर्व प्राणियों के देह में प्रकाशित हुवा है और उसके चार रूप अहँकार चित्त बुद्धि और मन माने जाते हैं--

अंतःकरण के साथ चार अवस्था का होना अवश्य है जिन का नाम जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति और तुर्य है और जिनमें से किसी एक में अन्तःकरण का निवास होता रहता है--

अन्तःकरण का व्यापार बाणी कहलाती है और वह चार प्रकार की है परा पश्यन्ति मध्यमा और वैखरी--पराकी उत्पत्ति अहँकार से है और फुरना उसका रूप है, फुरनाके होते ही किसी वस्तुका संकल्प रचा जाताहै और वह चित्त का व्यापार होकर पश्यन्ति बाणी कहलाताहै, संकल्प के साथ प्रयोजन रहता है और प्रयोजन का बाँधना बुद्धि का कर्तव्य है जिसका नाम मध्यमा बाणी है, पहली बाणी से दूसरी और तीसरी बाणियों की उत्पत्ति क्रम से होती है परन्तु कालान्तर इतना थोड़ा होता है कि उसका उन्मान नहीं किया जासक्ता, इन तीनों बाणियोंका

अन्तर्य व्यापार है और मौन अवस्था है चौथी वैखरी बाणी है जिसमें मन का कार्य मिला हुवा है और जिसका उच्चारण शब्द द्वारा होके मनुष्यों के सर्व व्यापारों को सिद्ध कराता है--

ऐसे ही चार वर्ण, चार आश्रम और चार दिशा का विभाग हुआ है--

ऋग्वेद का मुख पूर्व दिशाकी ओर है और उसमें से न्याय शास्त्र निकलकर देशान्तरों में फैला है--

यजुर्वेद का मुख दक्षिण की ओर है और उसमें से मीमाँसा उत्पन्न होकर अन्य देशों में गया है--

सामवेद का मुख उत्तरकी ओर है और उसमें से वैशेषिक पातञ्जल और साँख्य शास्त्र निकले हैं जिनका अन्य देशों में प्रचार हुआ है--

अथर्वण वेद का मुख पश्चिम की ओर है और उसमें से वेदान्त शास्त्र निकलकर अन्य देशों में फैला है--

चारों वेद वैखरी बाणी द्वारा प्रगट हुवे हैं और बाणी के सूत्र में अक्षर मणिवत् पिरोय हुवे हैं, इसलिये अक्षरों की उत्पत्ति का संक्षेप से वर्णन करना यहाँपर उचित है--

प्रथम शब्द ॐकार है और उस की मूर्तिके ९ भाग इस प्रकार दिखाये जाते हैं जिसके मिलाप से सर्व अंक और मूर्तियाँ रची गयी हैं--



अंक और मूर्तियों का वर्णन तीसरे चित्रमें होचुका है अब अक्षरों की उत्पत्ति दिखाई जाती है-

प्रथम तीन शब्द अ इ उ निकले हैं जिन्हें लघु स्वर कहते हैं और जिनका उच्चारण अति सुलभ है इनकी वृद्धि होनेपर आ ई और ऊ क्रम से प्रगट होते हैं और दीर्घ स्वर कहलाते हैं, अ इ के परस्पर सम्बन्ध से ए उत्पन्न होता है और आ ए के मिलने से ऐ सिद्ध होता है, अ और उ के मिलने से ओ और आ और ओ के मिलने से औ बनता है और यह चारों गुण कहलाते हैं-

श्वासको नासिका द्वारा बाहर निकालते हुवे अ के उच्चारण करनेसे अनुस्वार बनता है और अं रूपसे लिखाजाता है

श्वासको मुखसे निकालते हुवे अ को उच्चारण करने से विसर्ग बोला जाता है और वह अः के रूप में लिखाजाता है इस प्रकार प्रथम तीन शब्दों को चौगुणा करने से १२ स्वर सिद्ध होते हैं-

ऋ ॠ और ऌ ॡ स्वर माने जाते हैं परन्तु यह चारों व्यन्जन अक्षर के सम्बन्ध होनेपर प्रतीत होते हैं, व्यन्जन अक्षर की संख्या ३३ है और उनका विस्तार ऐसे है-

क ग च ज ट ड त द प ब यह १० अक्षर प्राणवायु द्वारा अर्थात् श्वासको बाहर से अन्दरकी ओर खेंचनेसे बोलेजाते हैं-

ख घ छ झ ठ ढ थ ध फ भ ह यह ११ अक्षर अपान वायु अर्थात् श्वास को अन्दर से बाहर निकालते हुवे बोले जाते हैं।

ङ ञ ण न म यह पाँच अक्षर उदान वायु द्वारा अर्थात् श्वासको नासिका द्वारा निकालते हुवे उत्पन्न होते हैं।

य र ल व श ष स इन सात अक्षरोंकी उत्पत्ति समान वायु से है और इनके उच्चारण में और व्यंजनोंसे परिश्रम थोड़ा होताहै-

सकार शब्द सबसे उत्तम और निरायास है और वह इसकारण हंस मंत्र का पहला अक्षर होकर आत्म भाव को दिखाता है।

हकार भी अपने वर्ग के उन दस अक्षरोंके उच्चारणका हेतुहै जिनकी उत्पत्ति अपानवायु द्वारा ऊपर कही गयी है औह वह उन सबसे श्रेष्ठ है, इसलिये हकार हंस मंत्र का दूसरा अक्षर मानागया है और उससे अनात्म भावका लक्ष पहचाना जाताहै।

जब प्राण और अपान व्यान के अन्तर लय होजाते हैं तब वैखरी बाणी बनती है अर्थात् स्वर शक्ति उत्पन्न होकर व्यञ्जनों को व्यक्त करती है।

व्यञ्जन अक्षरों के उत्पत्ति के स्थान भिन्न २ हैं जिन्हें कंठ रूपी वीणाके परदों के समान समझना चाहिये उसका विस्तार इस प्रकार है।

१ गले से क ख ग घ निकलतेहैं और गला निषाद के पर्दे के तुल्यहै
२ तालूसे च छ ज झ „ और तालू धैवत „ „ „ „
३ जिह्वासे ट ठ ड ढ „ और जिह्वा पंचम „ „ „ „
४ दाँतोंसे त थ द ध „ और दाँत मध्यम „ „ „ „
५ होंठ से प फ ब भ „ और होंठ गंधार „ „ „ „
६ नाकसे ङ ञ ण न म „ और नाक ऋषभ „ „ „ „
७ मुख से य र ल व श ष स ह निकलते हैं और मुख स्वर के पर्दे के तुल्य है।

इन सप्त स्थान से सप्त स्वर निकलसक्ते हैं और प्रत्येक स्वर उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के भेद से तीन प्रकारका है, सातको तीन गुणा करने से २१ भाँति के स्वर सिद्ध होते हैं

इस लिये सब बाजों के सम्पूर्ण ठाठ में २१ स्थान हुवा करते हैं जिनका विभाग सात प्रकृति और तीन गुणों के अनुसार समझना चाहिये।

बाणी अथवा सँगीत का कुछ परिमाण अवश्य होता है अर्थात् उसके उच्चारण करते हुवे थोड़ा वा बहुत समय का उन्मान किया जाताहै जिसका नाम छन्दहै और जिसको साम विद्यावाले ताल और लय कहते हैं अर्थात् साम छंदों में आकर छुपताहै और विभक्तसा प्रतीत होताहै।

छंदों में गायत्री छंद उत्तम माना जाताहै कि उसमें परिमाण का नियम नहीं होता और ब्रह्मविद्या उसमें गुप्त हुई है।

पहली दुसरी और चौथी चित्रमें ९ प्रकृतियोंके चक्र दिखाये जाचुके हैं इस चित्र में सप्त व्याहृतियां स्पष्ट कीजाती हैं जो ब्रह्म विद्या का स्वरूप और गायत्री मंत्र का रूप है, प्रकृति के दोनों विभागों का वास्तव में भेद नहीं है कि इस जगह आठवाँ और नवाँ चक्र ॐकारके अन्तर्गत है विचारसे समझ में आवेगा कि इस चित्र के सात चक्र सात लोकों को दिखाते हैं और ब्रह्माण्ड के आकार को पिण्ड की मूर्ति आवृत्त करती है-

१ सब के मध्य में भूलोक अथवा पृथिवी मंडल है और अध्यात्म में इसका स्थान गुदा है जिसे मूल द्वार भी कहतेहैं यहाँ पर भूः शब्द को मन से उच्चारण करते हुवे भूगोल का ध्यान करने से देह और भूलोक की एकता निश्चय होती है-

२ पृथवी के ऊपर जलका चक्र अथवा भुवर्लोक है और अध्यात्म में उसका स्थान नाभिहै जहाँपर भुवः शब्द को मन

से कहते हुवे चंद्रलोक का ध्यान करने से शब्द की एकता उस लोक के साथ होजाती है-

३ चंद्रलोक के ऊपर अग्निचक्र अर्थात स्वःलोक है और अध्यात्म में उसका स्थान हृदय है जहाँपर स्वः शब्द के साथ सूर्यलोक का ध्यान करने से श्रुति निश्चल होजाती है और अल्पज्ञता का संकल्प जाता रहता है-

४ सूर्यलोक को वायु मंडल घेरे हुवे है जिसका नाम महर्लोक है और जिसका अधिष्ठान अध्यात्म में कंठ है वहाँ पर महःशब्द द्वारा मरुतलोक का ध्यान करने से सूर्य चन्द्रादिक तारागण अन्तर्गत दिखते हैं और अनुभव की सहायता से प्राण की महर्लोक के साथ एकता प्रतीत होती है-

५ वायुमंडल के चारोंओर आकाश अथवा जनःलोक है जिसमें चारोंलोक अवस्थित हैं और अध्यात्म में उसका स्थान दोनों नेत्रोंका संधि देश है जहाँसे चक्षु की शक्ति उत्पन्न होती है वहाँ रुद्रदेव का ध्याय करने से चैतन्य पंच महाभूत का साक्षी होजाता है।

६ तपःलोक मनका अधिष्ठान है जो पंचमहाभूत को अपने अन्तर लिये हुवे उन सबका आधार बन रहा है और अंधेरे का रूप रखता है और अध्यात्म में उसका स्थान ललाट है जहाँ पर इन्द्र के प्रकाश रूप का ध्यान करने से मनका अंधेरा दूर होजाता है और ज्ञाता का स्वरूप जाना जाता है।

७ सत्यलोक मेरा स्थानहै जो सब से ऊँचा और सबको घेरे हुवे है और अध्यात्म में उसका चिन्ह शिखा अथवा ब्रह्म रन्ध्र है वहाँ

पर तेज पुंज का ध्यान करने से अविद्या नष्ट होजाती है और ब्रह्म की सर्वज्ञता प्रत्यक्ष दिखने लगती है और इस अपरोक्ष ज्ञान के प्राप्त होने पर मनुष्य ब्रह्म वेत्ता कहलाता है।

इस चित्रके नीचे की ओर जो दो छोटी जुड़ी हुई मूर्तियाँ हैं और जिनके मध्य में एक लालबिंदु दिखाई देती है वह सरस्वती और सावित्री की मूर्तियाँ हैं पहली चित्रके अनुसार सरस्वती की मूर्तिमें सप्त मंडलोंका क्रम बाहरसे अन्दरको जाताहै अर्थात् उसमें जो ब्रह्माण्ड का सर्वज्ञ रूप दिखता है उसका सब से बाह्य चक्र बुद्धि का है और सब के अन्तर पृथिवी का-

सावित्री की मूर्ति दूसरे चित्रके अनुसार अध्यात्म में पिण्ड के अल्पज्ञ भाव को प्रतीत कराती है, और इसमें पृथिवी का चक्र सबसे बाहर और बुद्धि का मंडल सब के अन्तर है, दोनों मूर्तियों के मध्य में जो लाल विन्दु है वह साक्षी चैतन्य के स्वरूप को दर्साती है और वहां पर पिण्ड और ब्रह्माण्ड की एकता करने की युक्ति का नाम गायत्री है।

प्राचीन महर्षियों ने अपनी त्रिकाल दृष्टि द्वारा समय का अनुमान करके ब्रह्मविद्या के उपदेश के निमित्त गायत्री मंत्रका संग्रह किया और यज्ञोपवीतके संस्कार की मर्य्यादा स्थापित की और यह नियम बांधा कि जब बाल्यअवस्था पूरी होजावे तब उसको यज्ञोपवीत की विधि से ब्रह्मचारी बनाकर गायत्रीमंत्र द्वारा ब्रह्मविद्या का उपदेश किया जावे जिसकी युक्ति का वर्णन ऊपर होचुका है-

जन्म दो प्रकार के माने गये हैं अर्थात् एक तो माताके गर्भ से पंचभौतिक देह की उत्पत्ति है दूसरा गुरु के शब्द द्वारा

विद्यारूपी जन्म है; प्रथम जन्म तो सबका एकसा होता है परन्तु दूसरे जन्म की विशेपता किसी किसी में होती है और जिनको वह यज्ञोपवीत की सहायता से प्राप्त होती है वह द्विज कहलाते हैं और ब्रह्मविद्या का वैराग्य सहित नित्य अभ्यास करने से ब्रह्म के सत् लक्ष्य को जान लेते हैं और ब्राह्मण कहलाने के अधिकारी होजाते हैं ।

यज्ञोपवीत की विधिसे तीन लड़ का सूत्र गलेमें पहनाया जाता है और ऐसा करने का अभिप्राय यह है कि पहनने वाला त्रिगुणात्मक निश्चय को अपने अन्तर धारण करताहै और इस निश्चय को दृढ़ करने के लिये अभ्यास की अपेक्षा होने से त्रिकाल संध्या का नियम बांधा जाता है और उसके समय प्रातर्मध्याऽन्ह और सायँकाल हैं प्रातःकाल की संध्या में ब्रह्मा का ध्यान नाभिस्थान में किया जाताहै मध्याऽन्ह के समय विष्णु का ध्यान हृदय के स्थान में बांधा जाता है और सायँकाल के समय ललाट के स्थान में शिवका ध्यान हुवा कर्ता है और इन तीनों समय के मंत्र इसी कारण अलग अलग रचे गये हैं, ऊपर वर्णन किये हुवे अभ्यास को कुछ समय तक विधि पूर्वक करनेपर ब्रह्मचारी को तत्वबोध प्राप्त होता है और वह समदर्शी होजाता है तब उसे पण्डित की संज्ञा का अधिकारी समझना चाहिये ।

इसके उपरान्त वह अवस्था है जिसमें मनुष्य सत् और तत् दोनों लक्ष्यों को यथावत् पहचानता हुआ प्राज्ञ कहलाताहै-

मैंने ब्रह्मऋषि का अवतार लेकर वेदोंकी रचना की है

और गुण और कर्म के विभाग से चार वर्ण बनाये हैं, जिनमें देहका अलंकार बांधा जावे तो विराट का मुख ब्राह्मण सिद्ध होता है और क्षत्री वाहू के समान हैं और वैश्य को जाँघ और शूद्र को पाँव के तुल्य जानना उचितहै, विराट का मन चन्द्रमा है और उसका नेत्र सूर्य्य माना जाता है मुखसे विद्या का प्रचार होता है और वह सब से ऊँचा और श्रेष्ट अंगहै, उसके नीचे बाहु बल के अंग हैं और इनकी सहायता से प्रजा की रक्षा होती है, जाँघ में सहारने की शक्ति होती है और खेती और व्यापार से देशकी स्थिति और उन्नति सिद्ध होती है, पांव से सेवा की जाती है और तीनों वर्णों के कार्यों की सिद्धि के लिये उसकी अपेक्षा है जिस प्रकार सर्व अंगों के मिलने से देह के संपूर्ण कार्य बनते हैं वैसे ही चारों वर्णों के धर्मों का निर्वाह होने से संसार का व्यवहार भली भाँत चलताहै, यदि देहका कोई अंग हीन होजावे अथवा काम न देवे तो देहके कार्य में विघ्न पड़ता है ऐसे ही वर्णोंके धर्मोंके बिगड़ने से देश की गति अधम होजाती है, धर्म यज्ञार्थ कर्म का नाम है और कर्म काल के भेद से तीन प्रकार के कहे गये हैं जिनके नाम प्रारब्ध क्रियमान और आगामी हैं परन्तु विचार के अनुसार भी तीन प्रकार के कर्म बनते हैं, एकतो अध्यात्म कर्म है जो देह धारी से बुद्धि मन और इन्द्रिय द्वारा किया जाता है और उसका फल सुख और दुःख उस देह धारी को प्राप्त होताहै, दूसरा अधिभौतिक कर्महै जो और देह धारियों से उत्पन्न होता है और जिसमें मनुष्य को सुख वा दुःख पहुंचता है, तीसरा अधिदेव कर्म है जिसका प्रादुर्भाव पंच

महाभूत से होता है और जो मनुष्य को अच्छा वा बुरा फल देता है—

वास्तव में मानुषी कर्मकी सिद्धि यज्ञ द्वारा होतीहै और यज्ञ का कर्ता मैं हूं परन्तु देहधारी मेरे इस कार्यको अपने अज्ञानसे नहीं समझते और कर्म और उसके फलका अध्यास अपने अहंकार में मानतेहैं, सर्व प्राणियों की उत्पत्ति और जीवन अन्नसे सिद्ध होता है और अन्नके पोषणके लिये वर्षाकी अपेक्षा है और वर्षा तब ही होतीहै जब सूर्य पृथवी को तपाकर उसमें से जलके परमाणुवोंको ऊपर खेंचता है जिस क्रिया का नाम यज्ञ है और वह मेरा कर्महै, इस वर्णन से निश्चय होगा कि संसार के सर्व कार्य ब्रह्म यज्ञ के आधीन हैं और सर्व देवता अपने २ कार्य इस यज्ञ में किया करते हैं और मनुष्योंको यज्ञादिक का करना अपने निर्वाह और उन्नति के लिये अवश्य है उन देवताओं में से अग्नि देवता की सहायता अधिक होने के कारण मानुषी यज्ञ की आहुती अग्नि को चिताकर उसमें डाली जाती है।

यज्ञ बहुत प्रकार के वेदों में लिखे हुवे हैं और उनमें मुख्य अश्वमेध माना गया है, अश्व के अर्थ घोड़े के हैं और प्राण जिसको असु कहते हैं घोड़े कीसी चंचलता रखताहै इसलिये घोड़े की उपमा प्राण को दीगयी है, मेध के अर्थ बध और निरोध के हैं और अश्वमेध वह यज्ञ है जिसमें प्राणका निरोध किया जाता है जितनी विधि उस यज्ञ के निमित्त बताई गईहै वह सब अध्यात्म में घटती है, मेरी आज्ञाथी कि मनुष्य इस प्रकार के यज्ञ को करके आत्मविद्या को प्राप्त हों यदि कोई यह समझें कि मैंने घोड़े की हिंसा करने का उपदेश

किया है तो उस मनुष्य की तामसी बुद्धि समझनी चाहिये अहिंसा मेरा परम धर्म है और मैंने अश्वमेध यज्ञ का करना मनुष्यों के उपकार और उद्धार के लिये बताया है-

इसी प्रकार नरमेध यज्ञ का प्रयोजन अहंकार का नाश करना है और गोमेध का अर्थ इन्द्रियों का संयम है परन्तु जिनकी तामसी बुद्धि होती है वह इन यज्ञों का अभिप्राय मनुष्य और गाय की हिंसा समझते हैं और विपरीत भाव से अनर्थ के भागी होते हैं-

ऊपर के तीन यज्ञों के अनन्तर स्वाध्याय यज्ञ है जिसमें ज्ञानकी प्राप्ति के निमित्त वेद शास्त्रादि ग्रन्थोंका पाठ और विचार किया जाता है और किसी पञ्चभौतिक सामग्री की अपेक्षा नहीं होती-

परन्तु उसकी विधि पूर्वक समाप्ति के लिये पुरोहित यजमान और यजमानपत्नी के सदृश तीन प्रमाणोंकी सहायता अवश्य है और उनको श्रुति प्रत्यक्ष और अनुभव प्रमाण कहते हैं श्रोत्र द्वारा जो अन्य पुरुषों का निश्चय और आशय सुनाजाता है वह श्रुति प्रमाण कहलाता है जो सुनागया हो उसके लक्षको नेत्र द्वारा देखना प्रत्यक्ष प्रमाण है।

इन दोनों प्रमाणों से नाम और रूप सिद्ध होते हैं परन्तु लक्षार्थ के पहचानने के लिये अनुभव प्रमाण की आवश्यक्ता रहतीहै जिसका स्वरूप मनन और निदध्यासन हैं ऊपरके तीनों प्रमाणों से जो अर्थ सिद्ध होता है उसके सत्य होने में संदेह नहीं होसक्ता और वह निश्चय कहलाता है, इन तीनों अंग सहित ब्रह्म विद्या और वेदान्त के ग्रन्थों का अध्ययन करना

स्वाध्याय यज्ञ का अभिप्राय है।

अनेक यज्ञों के वृत्तान्तों में सुर और असुर, देवता और दैत्यों के युद्ध का वर्णन हुवा है उसके अर्थ यह न समझने चाहियें कि उनमें कोई जाति भेद है अर्थात जिन पुरुषों में सतोगुण का अंश अधिक होता है उनकी देवताओं से उपमा दीगई है और जिनकी रजोगुणी शक्ति बढ़ी हुई है उनको दैत्य समान माना है और अध्यात्म में विचारा जावे तो गुणानुसार ऐसी ही दो प्रकार की वृत्ति प्रत्येक मनुष्य में अवस्थित है जिन्हें दैवी और आसुरी संपद् कहते हैं उनमें परस्पर शत्रुता चली आती है और वह एक दूसरे के कार्य में विघ्न उत्पादन करते हैं जिस समय दैवी संपद् बलवान और आसुरी संपद् निर्वल होजाती है तब यज्ञ सिद्ध होता है और आत्मज्ञान रूपी यज्ञ शेष का स्वाद मिलता है—

देवताओं की संख्या ३३ और ५६ कोटि मानी जाती है और उसका अभिप्राय यह है कि पंच कर्मेंद्रिय और पंच ज्ञानेन्द्रिय और एक मन को मानकर ११ का अंक बनता है और उसको तीन के अंक से त्रिगुणा करने पर ३३ का अंक सिद्ध होताहै इसपर सप्त वाह्य प्रकृति के सात शून्य बढ़ाने से ३३००००००० की संख्या सिद्ध होतीहै अर्थात् कारण त्रिपुटी के तीनके अंकको सूक्ष्म त्रिपुटी के ११ के अंकसे अधिक करके और स्थूल त्रिपुटी के सात शून्यों को बढ़ाकर तेंतीस कोटि की संख्या का अनुमान किया जाता है जिसको शैव मतने मानाहै—

५६ कोटिकी संख्या का विस्तार इस प्रकार है कि वैष्णव मत ने कारण त्रिपुटि में अष्टधा प्रकृति को सिद्ध किया है

और सूक्ष्म त्रिपुटि में सप्तलोक माने हैं और स्थूल त्रिपुटी में सप्त मंडल का विभाग स्थापित किया है इस विधि से जो ८ को ७ गुणा किया जावे तो ५६ का अंक बनता है उसपर सात शून्य को बढ़ाया जावे तो ५६०००००००० की संख्या सिद्ध होती है, ब्रह्मयज्ञ का साधन देवताओं की शक्ति से बनताहै और उनकी शक्तियों का व्यापार ईश्वरकृत माना जाता है और सदैव एकसा रहताहै देवताओं की स्वभाविक क्रिया-ओं का पहचानना पराविद्या से होता है जो अनुभवानुसार है इस कारण वेद की बाणी के अर्थ समझने के लिये अनुभव की आवश्यकता है जितने मनुष्यकृत व्यवहार हैं उनकी युक्ति को अपराविद्या खोलती है और अनेक युक्तियों का प्रचार समय आधीन संसार में होताहै और मिटजाता है परा-विद्या की भाषा का नाम प्राकृत है और वह स्वतः सिद्ध है यदि उसका बुद्धि अनुसार शोधन और संस्कार किया जावे तो वह संस्कृत भाषा कहलाती है, वेद की भाषा प्राकृत है उपनिषदों में प्राकृत और संस्कृत बाणी मिश्रित है और शा-स्त्रादि ग्रन्थ संस्कृत भाषा में लिखे गये हैं, पराविद्या की इष्ट-देवी सावित्री और अपराविद्या की इष्टदेवी सरस्वती है, संसार के चक्रके चलानेवाले सर्व देवता हैं और वह मेरी शक्ति के आश्रय हैं परन्तु मनुष्य अज्ञान के अंधकार में इस खेल करनेवाले को नहीं पहचानते और अपनी देह की क्रियाओं का कर्ता अपनेतयीं मानते हैं जो कुछ मैं ऊपर वर्णन कर-चुका हूं इसको तीनों प्रमाणों सहित विचारने से बुद्धि शुद्ध होती है और ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है, मैं विवेकवान पुरुषों के लिये एक यन्त्रभी दिखाता हूं जिसके समझने से स्वरूप का

ज्ञान होसक्ता है यदि मैं अपना व्याख्यान देताजाऊं तो बहुत समय व्यतीत होजावेगा और अन्य देवताओं को अपनी मूर्तियां दिखानी हैं इसकारण मैं अब अपने कथन को समाप्त करके इन्द्रदेवता का व्याख्यान सुनना चाहता हूं ।

सो



हं

	१ द्रष्टा	२ दर्शन	३ दृश्य	४ स्वरूप	५ रूप	६ भाष्य	७ अधिष्ठान	८ प्रमाण
१	चित्त	अहं	बुद्धि	अध्यात्म	देहा-नंद	अल्प-ज्ञता	भूःलोक	न्याय
२	चित्त	बुद्धि	अहं	ब्रह्म	जगता-नंद	सर्वज्ञ-ता	भुवर्लोक	मीमांसा
३	अहं	चित्त	बुद्धि	परब्रह्म	परमा-नंद	ज्ञाता	स्वःलोक	वैशेषिक
४	अहं	बुद्धि	चित्त	पूर्ण	पुरुष	ज्ञान	महर्लोक	पातंजल
५	बुद्धि	अहं	चित्त	चैतन्य	अशून्य	ज्ञेय	जनःलोक	सांख्य
६	बुद्धि	चित्त	अहं	अव्यय	सहजा-नंद	ज्ञात	तपःलोक	वेदान्त
७	विचार	अध्यात्म	ब्रह्म	स्वयं	केवल	विज्ञान	सत्यलोक	अनुभव

प्राणचक्र

इन्द्र देवता ने सभा के मध्य खड़े होकर अपना व्याख्यान आरंभ किया और सब महा पुरुषों से कहा कि मेरी तीन मूर्तियाँ हैं जिनका दर्शन तुम्हें इस चित्र से होगा, एक तो स्थूल रूप है जिस में प्राणों के ढांचे पर देह का कोश मंढा हुवा है दूसरा सूक्ष्म रूप है जिसमें पंच शक्तियाँ प्राणों को चलाती हैं और तीसरा कारण रूप है जो अनुभव का लक्ष है; पहले रूप का अधिष्ठान चिद्ग्रन्थि है दूसरे का चिदाभास और तीसरे का चिदाकाश; चिद्ग्रन्थि में देह का अभिमानी रहता है चिदाभास में लिंग शरीर का ज्ञाता बसता है और चिदाकाश में स्वरूप का साक्षी चैतन्य निवास करता है; चिद्ग्रन्थि को उस प्रतिबिम्ब के सदृश समझो जो किसी चमकते हुवे धातु के टुकड़े में मुखके देखने से पड़ता है और उस धातु के रंग को लिये रहता है, चिदाभास को उस प्रतिबिम्ब के समान जानना चाहिये जो जलमें मुखको देखने से हिलता हुवा प्रतीत होताहै और चिदाकाश उस निश्चल प्रतिबिम्ब के तुल्य है जो दर्पण में मुख को देखने से बनता है और सब रंगों को यथावत् दर्सता है–

मेरी स्थूल मूर्ति स्पन्दरूप वायू है जिसकी क्रिया मरुत देवता के आधीन है, मेरा सूक्ष्म मूर्ति प्राण शक्ति है जिसका निस्पन्द रूप है और मैं अधिष्ठाताहूँ और मेरे कारण स्वरूप का स्वामी रुद्र है और उसकी समाधिस्थगति है; इन तीनों मूर्तियों में मेरी पांच पांच शक्तियाँ समान प्राण अपान व्यान,

और उदान के भेद से प्रसिद्ध हैं अब उनमें से स्थूल मूर्तिका वर्णन किया जाता है—

प्राणियों के देह में एक पवन श्वास होकर चलती है परन्तु वह क्रिया रूप और स्थान के विभाग से पाँच भाँति की मानी जाती है अर्थात् सब से प्रथम समान वायु है जो निश्चल होकर आकाश का रूप धारण करती है और सबके गमन को सिद्ध कराती है उसका नाभि में स्थान है जहां से आकर्षण शक्ति उत्पन्न होती है—

दूसरी प्राणवायुहै जिसकी क्रिया अपक्षेपण है अर्थात् बाहरकी पवनको देह के अन्दर खैंचना और जिसका पवन रूप और हृदय स्थान है—

तीसरी अपानवायु है जिसकी क्रिया उत्क्षेपणहै अर्थात् देहके अन्दर की पवन ऊपरको निकालना और जिसका रूप अग्नि और गुदास्थान है—

चौथी व्यानवायु है जिसकी क्रिया प्रसारण अर्थात् पवन का देह के अन्तर सर्व अंगों में प्रवेश कराना है और जिसका रूप जल और ललाट स्थान है—

पांचवीं उदानवायु है जिसकी क्रिया आकुंचन है अर्थात् देह के सर्व अंगों में से पवन को सुकेड़ना और जिसका रूप पृथिवी और कंठ स्थान है—

मनुष्य देह को एक भापके समान जानना चाहिये जिसमें सब से नीचे अपानवायु अग्नि का काम देती है और समान-वायु भांडा बनती है और प्राणवायु जलका कार्य सिद्ध कराती

है, इन तीनों के व्यापार से जो भाप उठती है वह शिर के ढकने में एकत्र होकर देह के सब अंगों में फैलती है और उसका नाम व्यान कहा जाता है जब भाप का कार्य होचुक्ता है तब वह द्रवरूप सिमट कर ढकने पर रस विन्दुवों को उत्पन्न करती है और इसका नाम उदानवायु है-

यथार्थमें प्राण और अपान दोशक्तियांहैं और उदान और व्यान उनकी दो युक्तियाँ हैं, प्राण का संबन्ध उदान से और अपान का व्यानके साथ है जैसे जल में से मट्टी के परमाणु बैठा करते हैं और अग्नि भाप को उठाती है; इन चारों का अधिष्ठान समानवायु है जो आकाशवत निर्लेप रहती है और जिसमें से मेरी आकर्षणशक्ति बाहरकी प्राणवायु को देह के अन्दर खैंचती है खैंच के समाप्त होतेही मेरी अपानशक्ति पवन को देह से बाहर निकालना आरंभ कर देती है इस प्रकार श्वास के आवागमन से एक चक्र बंध जाता है जो लुहार की धौंकनी के समान रातदिन चलता है और क्षणभर नहीं ठहरता इसी अवस्था का नाम जीवन है-

श्वास को अन्दर खैंचते हुवे वाह्य पदार्थों का संग चैतन्य के साथ इन्द्रियगोचर द्वारा होता है और श्वासके बाहरकी ओर निकलते हुवे चैतन्य के रूप का प्रतिबिम्ब विश्व में भासता है इन्ही दोनों क्रियाओं की समता में बाणी की उत्पत्ति होती है और इन के परस्पर घिस्से से जठराग्नि निकलती है जिस-करके अन्न पचताहै, पांचोंपवनों को प्राण इसलिये कहते हैं कि पवन तत्व का निज रूप प्राण है और अन्य में और

तत्वों का अंश मिश्रित होता है प्राणवायु पिण्ड और ब्रह्माण्ड दोनों में संपूर्ण व्यापक है और यदि पिण्ड की वायु का ब्रह्माण्ड की वायु से संबन्ध टूटजावे तो देह का तत्काल पात होजाता है-

समान के अवकाश में अन्य चार पवनों का परस्पर संबन्ध इस प्रकार है कि प्राण की अपान से मित्रता उदान से शत्रुता और व्यान से समता है, अपान का प्राण से मित्रभाव व्यान से शत्रुभाव और उदान से समभाव है, व्यान का उदान से मित्रता अपान से शत्रुता और प्राण से समता है, उदानकी व्यान से मित्रता प्राण से शत्रुता और अपान से समता है-

इन चारों पवनों का पृथकभाव होने पर भी एक पिण्ड में निर्वाह करना मेरी सहायता और भय से बनता है अर्थात् प्राण से वायु अपान से पित्त और व्यान से कफ उत्पन्न होकर-उदानरूपी देह की स्थिति सिद्ध होती है इन्हीं पवनों का समूह होने पर संकल्प उठता है और मन का अध्यास चिद् ग्रंथि में होता है-

प्राणों के संयोग से पांच उपप्राण उपजते हैं जिन्हें नाग देवदत्त कूर्म कृकल और धनंजय कहते हैं, नागसे डकार आता है देवदत्त से जिंवाई आती है कूर्म से पलक खुलते और मिचते हैं कृकल से भूक लगती है और धनंजय मृत्यु के होनेपर देह को फुलाता है-

समानवायु पिण्ड और ब्रह्माण्ड में आकाशवत् व्यापक है और नीचे की चार वायु उसमें से उत्पन्न होती हैं-

प्राणवायु ब्रह्माण्ड में पवन होकर चलती है और पिण्ड में श्वास होकर बाहर से अन्दर को जाती है-

अपानवायु ब्रह्माण्ड में अग्निज्योति होकर रहती है और पिण्ड में जठराग्नि बनकर श्वास को अंदर से बाहर की ओर फेंकती है–

व्यानवायु ब्रह्माण्ड में चन्द्र ज्योति होकर रहती है और पिण्ड में भाप बनकर रुधिर को नाड़ियों में चक्र देती है और देहका पोषण करती है–

उदानवायु ब्रह्माण्ड में परमाणु के रूप से ठहरी है और पिण्ड में स्थूलाकार बनी है जिससे सर्व कर्मेंद्रियों के कार्य सिद्ध होते हैं–

ब्रह्माण्ड और पिण्ड दोनों में पांच पवन का खेल होरहा है परन्तु उन पवनों का व्यवहार स्थान भेद से ब्रह्माण्ड में एक प्रकार का और पिण्ड में दूसरी भांत का बिम्ब प्रतिबिम्बवत् है वास्तव में पंच प्राणों का सूक्ष्म आकार है और पंचमहाभूत उन्हीं की स्थूल मूर्ति हैं अन्य वस्तु नहीं–

अब मैं सभा को अपनी सूक्ष्म मूर्तिका दर्शन कराता हूं जो शक्ति रूप है और जिसकी क्रियाओं की पहचान अभ्यास करने पर होती है ब्रह्माण्ड में पञ्च प्राणशक्तियों का व्यवहार उस चित्र के अनुसार दीखता है जिसका दर्शन तुम सबकों विष्णु भगवान ने पहली चित्र द्वारा करायाहै और पिण्डमें उन शक्तियों का व्यवहार विष्णु देवकी दूसरी मूर्ति के अनुसार प्रतीत होता है और प्रतिबिम्बवत् पलटा हुआ है।

इस चित्र की दूसरी मूर्ति को विचार पूर्वक देखो कि उस में प्राण का हरा रंग ऊपर की ओर से नीचे को उतरता हुवा

हृदय के नीले स्थान में से जाता है और अपान के लाल रंग-वाले गुदा स्थान तक पहुँचता है और लाल रंगवाली अपान शक्ति गुदास्थान से ऊपर को जाती है और हृदय के नील स्थानमें से होती हुई नासिका पर्यन्त प्राण को बींधती चली जाती है इस प्रकार प्राण और अपानके मिश्रित होने से द्वन्द्व उत्पन्न होता है अर्थात् अपान की युक्ति जिसका व्यान नाम और हलका नील रूप है ऊपर की ओर प्राण को घेर लेती है और नीचे अपान के अधिष्ठान में सब से बाहर चक्र बांधती है और प्राण की युक्ति जिसका उदान नाम और मटियाला रंग है नीचे की ओर अपान को आवृत करती है और ऊपर जाकर प्राण के स्थान में सब से बाहर अपना चक्र बनाती है हृदय के मध्य स्थान में समान शक्ति का निश्चल रूप से वासा है और उसमें से ऊपर की चारों शक्तियों का आवागमन होता है; इस मूर्ति के ऊपर वाले भाग को देखनें से प्रतीत होसक्ता है कि प्राण और उदान नामी शत्रुभाव रखनेवाली शक्तियों की मध्यस्थ समभाव रखने वाली व्यान शक्ति बनी है और मूर्ति के नीचे के भाग को विचारने से निश्चय होगा कि अपान और व्यान की शत्रुभाव रखनेवाली शक्तियों के मध्य में समभाव रखने वाली उदानशक्ति स्थित हुई है, इन चारों शक्तियों में से किसी की विसमता होनेपर व्याधि उत्पन्न होती है और देह नष्ट होजाता है, इस मूर्तिके ऊर्ध्वभागको एक भापका समझो जिसका मटियाला भांडाहै औ जिसके अन्दर हरे रंग का जल लाल रंग वाली अग्नि से तप्त

होके हलके नीले रंग के पसेव को उत्पन्न करता है अधःभाग में लाल अग्नि मटियाले वर्तन में जलरही है और उसके बाहर हलके नीले रंग का जल भरा हुवा है जो बर्तन को ठंडक देता है और फटने से बचाता है और अग्नि की शक्ति हरे रंग की भाप को उछालती है—

प्राणों की गतिपर आन्तर्य दृष्टि रखने से अभ्यासी को पवन की चाल मंद होती हुई प्रतीत होती है और अन्त में समानरूप से ठहरीहुई भासती है तब वह प्राण शक्तियों के उन क्रियाओंका अनुभव करता है जिनका वर्णन ऊपर हो चुका है अर्थात् प्राण पवन के निस्पन्द रूप होतेही द्वन्द मिट जाता है और चिदाभास का लक्ष पहचाना जाताहै जिसमें चैतन्यकी स्वतन्त्रता और जड़ रूपी देहकी परतन्त्रता भली प्रकार दिखाई देती है अन्य शब्दों में यों कहना चाहिये कि चैतन्य के आधीन मन और इन्द्रियों के सर्व व्यापार निश्चित होते हैं और समानवायु के स्थान से प्राणशक्ति के उदय होतेही जगत सूझ पड़ता है और अपानशक्ति के अस्त होते ही संसार लय होजाता है, उदय का रूप दिन और अवस्था जाग्रत है अस्त का रूप रात्री और अवस्था स्वप्न है, जाग्रत अवस्था में श्रुति ब्रह्माण्ड की ओर प्रकाशवत् खिंडि हुई होती है और स्वप्न में अनुभव का तेज पिण्ड के अन्तर ऐसा भासता है जैसे किसी घट के बीच में दीपक बलरहा है, वृत्ति के वहिर्मुख होने का नाम उदय और अन्तर्मुख होने का नाम अस्त कहाजाता है, दिन रात में मनुष्य की श्वासा

की संख्या २१६०० मानी गई है और उदय और अस्त के भेद से द्विगुणी अर्थात ४३२०० होतीहै मैं इस सूक्ष्म मूर्तिका अधिष्ठाता हूँ और जैसे सूर्यका चक्षुमें, चन्द्रमा का मनमें, अग्नि का मुख में, और दिक् का कानों में स्थानहै वैसे मेरा वासा प्राणों में है जब मैं उनके चक्र को चलाताहूँ सब देवताओं का उदय होजाता है और जब चक्र को रोक देताहूँ तो वह सब प्राणों में लय होजाते हैं इस कारण मुझे सर्व देवताओं का राजा कहते हैं समानवायु मेरा सिंहासन है दामिनी मेरा बज्र है काले मेघों की सेना है और श्वेत बादल मेरे ऐरावत हाथी हैं, मैं अपानवायु के दूतोंको भेजकर समुद्र से चन्द्रज्योति का कर उगाता हूँ और प्राणवायु के द्वारपालों के हाथ से सोम की वर्षा करके पृथिवी की रक्षाकरता हूँ इसप्रकार मेरी सहा- यता से अन्य देवताओं का आराधन संभव होता है और सर्व मनुष्य यज्ञादिक द्वारा मेरी आज्ञा का पालन करते हुवे सुख और संपत्तिको पाते हैं और शुद्ध बुद्धि द्वारा आत्म- स्वरूप के परमानन्द का लाभ उठाते हैं-

मेरी तीसरी अथवा कारणमूर्तिका समाधिरूप है और उसका दर्शन जिज्ञासु को चिद्ग्रन्थि के खुलने और चिदा- भास का रूप लय होजानेपर मिलता है अर्थात् जब पहली मूर्ति अनुसार अजपाजाप का अभ्यास कियाजाता है और दूसरी मूर्ति के अनुकूल श्रुतिकी साधना की जाती है तब इस तीसरी मूर्ति का लक्ष जानाजाता है, नाभि हृदय और त्रिकुटी ध्यान के तीन स्थान हैं उनमें से नाभि द्वारा प्राणों

की स्पन्दरूप क्रिया बनती है जिसमें श्रुति को शब्दपर लगा के अभ्यास किया जाता है, दूसरा हृदयस्थान है जहाँ श्रुति के शब्दसे एकता करनेपर प्राणों का निस्पन्दरूप होजाताहै और प्राण और अपानकी शक्तियाँ तुलीहुई प्रतीत होतीहैं, तीसरा स्थान त्रिकुटीहै जिसमें प्राणके स्पन्द और निस्पन्द दोनोंरूप लय होजाते हैं और एक विलक्षण अवस्था प्रगट होती है जिसका वर्णन नहीं होसक्ता परन्तु अभ्यासीपुरुष अनुभव करसक्ता है—

दूसरी मूर्ति में प्राणशक्तियां पाच रंगों में दिखाईगई हैं जिनके परस्पर संबन्ध से मूर्ति के मध्य अर्थात् हृदय में चिदाभासरूपी ग्रन्थि ऐसी पड़ती है जैसे दो रस्सियों में डेढ़गांठ लगाकर फन्दा बनायाजाता है, एक रस्सी के प्राण और उदान नाम सिरे ऊपर की ओर हैं और गांठ नीचे है और दूसरीरस्सी के उदान और व्यान नामी सिरे नीचे की ओर हैं और गांठ ऊपर है मध्य में दोनों गांठों से जो फन्दा पड़ताहै वह चिदाभास की ग्रन्थि अथवा लिंग शरीर है, जब तक यह ग्रन्थि बनी रहती है प्राणों का आवागमन नहीं छूटता परन्तु ग्रन्थि के खुलतेही प्राणी मोक्षपदवी को प्राप्त होता है इस ग्रन्थिका खोलना बलद्वारा नहीं बनता कि बलविधि से वह और भी कड़ी होजाती है यदि उस के खोलने का यत्न युक्तिसहित किया जावे तो वह खुलजाती है और पांचों प्राणों के आकार ऐसे पृथक पृथक अपने अपने अधिष्ठान में दीप्तमान होते हैं जैसे तीसरी मूर्ति में दिखाये हुवे हैं, श्रुतिका रूप प्राण और अनुभव का रूप अपान है प्राण द्वारा श्रुति अन्तर्मुख जाती है

और चैतन्यसे स्पर्श करके अहंकारकी भावनाको उत्पन्न करती है, अपानाद्वारा अनुभव वहिर्मुख आताहै और जगताका अध्यास कराता है, श्रुति माया अथवा प्रकृतिका स्वरूपहै और अनुभव ब्रह्म अथवा पुरुषका स्वरूप है श्रुति और अनुभव का संयोग चिदाभास में ग्रन्थि रूप होरहा है जिसके खोलने के निमित्त दोनों के वेग को पलटदेना होता है अर्थात अनुभव को अन्तर्मुख और श्रुतिको वहिर्मुख करने का नाम युक्ति है और ऐसा करने पर अशून्य रूप चिदाकाशमें जगतसे चैतन्य का पृथकभाव ज्ञानचक्षुःद्वारा दीखता है और जगत् चैतन्य के प्रतिबिम्ब समान निश्चित होता है—

सर्व महर्षि और महात्मा श्रुति अनुभव और प्रत्यक्ष तीनों प्रमाणों से आत्मस्वरूप को सिद्ध करके इस अशून्य देश में सदैव विराजमान हैं और उनके दर्शन ऊपरकी युक्ति द्वारा चिदाकाश में प्राप्त होते हैं इस कारण जो उनके स्वरूपका कथन युक्ति बिना श्रोत्र के आश्रयसे किया जाता है उसको अनिश्चय समझना चाहिये ऐसी अशून्य अवस्थामें जगत की अविद्या शक्तिका लय होजाताहै और इसलिये रुद्रको तीसरी मूर्तिका देवता माना है—

अग्निकी एक चिंगारी को बार बार फूंकने से चिंगारी बलवान होसक्ती है कि सारे जगतको जलादेवे इसी प्रकार चैतन्य के अणुरूपमें प्राणों की धौंकिनी से ऐसी ज्ञानाग्नि उत्पन्न होती है जो संसारके अज्ञान रूपी फूसको क्षणमें भस्म करदेती है इतना कहकर इन्द्र देवताने अपना व्याख्यान समाप्त किया और रुद्रदेव से अभिलाषा की कि अब आप अपनी मूर्ति सभा को दिखावें

॥ खगोल ॥

रुद्रदेवने कहा कि मैं तामसी शक्ति का स्वामीहूं और सर्व वस्तुओं का लयकरना मेरा कार्य है इन्द्र देवताने जो तीसरी मूर्ति में प्राणों का समाधिरूप दिखाया वह मेरी सूक्ष्म अवस्था है और उसका अनुभव अभ्यासी पुरुषों को ही होसक्ता है, अब मैं तुमको अपनी स्थूल मूर्ति का दर्शन कराता हूं जिसको चर्मदृष्टि भी देखती है परन्तु उसके सारांश को विचार विना नहीं समझसक्ती, इस मूर्ति का नाम खगोल है और इसके अन्तर अनेक शिशुमार चक्र बनेहुवे हैं, आकाश मेरा निश्चल स्थान है और चार तत्व पवन अग्नि जल और पृथिवी उसके भीतर चलायमान रहते हैं अर्थात् चरशक्ति द्वारा आकाश पवनका रूप धरताहै और पवनकी परस्पर रगड़से अग्नि बन जाता है और पवन और अग्नि के संयोग से जल भावको स्वीकार करता है अन्त में तीनों के मिलाप से पृथिवी के आकार को व्यक्त करता है, वास्तव में एक आकाशने परिणाम विधि से अन्य चार तत्वों को प्रगट किया है योंतो तारामय आकाश के अन्त का अनुमान बुद्धि नहीं करसक्ती और उसके भीतर अनेक शिशुमार चक्र हैं परन्तु उनमें से अब मैं उस चक्र का वृत्तान्त सुनाताहूं जिसका सम्बन्ध इस सूर्यमण्डल से है अर्थात् सूर्य ध्रुवतारे के आश्रय है इस कारण जब ध्रुव घूमता है तो वह सूर्य को आकाश में घुमाता है इसी प्रकार पृथिवी और नवग्रह पवनरूप बंधन से सूर्य के आधीन हैं और उसके चारों ओर चक्रको बनाते

हुवे घूमते हैं और चन्द्रमा पृथिवी को अपना केन्द्र बनाकर पृथिवी के सारे ओर घूमता है और सत्ताइस स्थानों में से निकलता हुआ नक्षत्रों को सिद्ध कराता है, बुध शुक्र मंगल वृहस्पति और शनि यह पांच ग्रह सूर्य का आश्रयलेके अकाश में पृथक् पृथक् चक्रवत विचरते हैं और पृथिवीमंडल औरअन्यग्रहों के कभी समीप आजाते हैं और कभी उनसे दूर होजाते हैं इनकी चाल अपने अपने मंडल के अनुसार मंद और शीघ्र है और सब के मंडल एकसे नहीं अर्थात् कोई छोटा और कोई बड़ा है और आकाश में उनके देश और मार्ग भिन्न भिन्न हैं, राहु चन्द्रमा की छाया है जो चन्द्रमा के साथ चलती हुई राहु मण्डल को रचती है, केतु पृथिवी की छायाहै जो पृथिवी की वार्षिक गतिके अनुसार अपना मण्डल बनाती है:-

संसार में नवग्रह प्रसिद्ध हैं और वह गुणभेद से तीन प्रकार के हैं अर्थात् वृहस्पति सूर्य और चन्द्रमा का सात्विक-भाव है, मंगल बुध और शुक्र का राजसीभाव है और शनि राहू और केतु का तामसी भाव है; यह आकाश में अलग अलग विचरते हैं और पृथिवी और देह धारियों में अपनी अपनी गुणशक्ति द्वारा फल उदय करते हैं जिसका नाम ग्रह-दशा है, मेरी महिमा को विचारिये कि सूर्य शनि आदि बड़े बड़े गोलाकार मेरे आकाशरूपी उदर में ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे गूलर में बीज होते हैं और यह प्रत्यक्ष प्रमाणभी है कि शनिः तारा भूगोल के निवासियों को एक बिन्दुसा दीखता है और यदि शनि और अन्य तारागणों से पृथिवीको देखाजावे तो

वह राई समान दृश्यमान होगी-मेरे ऊपर के संक्षेप वर्णनको सुनके विवेकवान पुरुष मेरी अथाह शक्ति का अनुमान करसक्ते हैं इसलिये मैं मरुतदेव से अभिलाषा करताहूं कि वह सभासदों की दृष्टिको जो शून्यस्थान में विचरने से थकित होगई है अपनी ज्योतिष्मान मूर्ति दिखाके सावधान करें-

॥ ज्योतिषमान चक्र ॥

मरुतदेवने कहा कि रुद्रजी ने जो मूर्ति सभा को दिखाई वह आकाश की थी और उसका निश्चलरूप था मैं अब आपको अपनी उस चलायमान मूर्तिका दर्शन कराताहूं जिसको पवनमण्डल कहते हैं, आकाश अचर होके सर्वत्र व्यापक है और मेरी चरशक्ति पवन का रूप धरके उसमें परिपूर्ण होरही है और सर्व तारागण को अपने सूक्ष्म बन्धनद्वारा घुमारही है, खः अकाश को कहते हैं और चर के अर्थ चलायमान के हैं इस कारण मेरे पवनमण्डल का नाम चरखः भी है उस चरखेका ज्योतिष्मान रूप है और सूर्य केन्द्र है और शनि बृहस्पति मंगल शुक्र और बुध उसकी दीप्तमान पंखड़ियाँ हैं और पृथिवी उसके तकले के सदृश है जिसपर चन्द्रज्योति की रुई चक्रशक्ति द्वारा सूत बनकर लिपटती है अर्थात् पवन के क्षोभ से अग्नि प्रचण्ढ होके सूर्यमण्डल को प्रत्यक्ष करती है जो अग्नि का विशेषरूप और सबसे बड़ा आकार है और जिसका प्रकाश किरणों द्वारा अन्य छोटे गोलाकारों तक पहुंचकर पंखड़ियों की मूर्ति को बनाता है, विचारसे सिद्ध होगा कि जितने छोटे आकार हैं उनके उस अर्धभागपर जो सूर्य के सन्मुख होता है सूर्य का प्रकाश रहताहै और दूसरे अर्धभागपर जो सूर्य से हटाहुआ होता है अंधेरा रहाकरता है, इसी प्रकार पृथिवी के एक अर्धभाग में दिन और दूसरे अर्धभाग में रात्रि हुआ करती है पृथिवीका जो स्थान चक्राकार घूमता हुवा सूर्य के सन्मुख आताहै वहां प्रातःकाल होताहै और जो स्थान घूमता हुआ सूर्य से हटजाता है वहाँ सायँकाल होताहै और यह दोनों

काल पृथिवी के किसी न किसी देशमें प्रतीत होते रहते हैं कारण यह है कि सूर्य मंडल से जो अनेक किरणें निकलती हैं उनमें से दोनों अन्तवाली किरणें पृथिवी के अर्धभाग के सिरोंपर पड़ती हैं और अन्तरिक्ष में से होती हुई दो प्रकारकी लाली दिखलाती हैं, उनमें से प्रातःकाल की लाली जो सूर्य के उदय होने से पहले दिखती है ऊषाका रूप है और सायँ काल की लाली जो सूर्य अस्त होने से पीछे दीखने लगती है वह मित्रा का रूप है, सूर्य की जिन दो किरण रेखाओंसे प्रातःकाल और सायँकाल की उत्पत्ति सिद्ध होती है उनके मध्यमें दिन का ज्योतिष्मान रूप सदैव बनारहता है और उन दोनों रेखाओंको अश्विनौ अर्थात् अश्विनका जोड़ा कहते हैं, ऊपर की दोनों रेखाओं के मध्य यमदेवताका स्थानहै और वह पवनशक्तिसम्पन्न होके भूगोलसे प्राणको और जल और पृथिवी के परमाणुओं को खेंचलेजाते हैं यम देवता का पृथिवी से सम्बन्ध, है मित्रा का चंद्रलोक से, ऊषाका सूर्यलोक से और अश्विनौ का मेरे ज्योतिष्मान पवनमंडल से संयोग है—

वासुदेव का कारणरूपहै और इंद्र देवता का सूक्ष्म स्वरूप, रुद्रदेवताकी स्थूल और अचर मूर्ति है और मेरा चररूप आकार है जिसके अन्तर पवन अग्नि जल और पृथिवी समाये हुए हैं, इन चारों में से पवन का अमूर्तभाव है और अग्नि, जल, पृथिवी मूर्तिमान हैं, ऊपर के वर्णन से मेरी स्पन्दरूप शक्ति का अनु होसक्ता है इसलिये मैं अपने व्याख्यानको इतनेहीपर समाप्त करके प्रजापति से जो त्रिलोकी के स्वामी और मेरे अंग हैं निवेदन करताहूं कि वह सभाको अपने चित्रका दर्शनकरावें—

प्रजापति मूर्ति

प्रजापतिने अपना व्याख्यान सर्वसभा को सावधान कराके आरंभ किया और कहा कि हे मुनीश्वरो और देवताओ मेरे रूपका जो वर्णन वेद और उपनिषदादिक में बहुप्रकार लिखा हुवा है और गूढ विचार से समझमें आता है वह आपने पढ़ा और विचारा होगा परन्तु अब मैं उस आशय को इस चित्रद्वारा दिखाताहूँ—

आत्मा व्यक्त और अव्यक्तभाव से परे और सर्व पदार्थों का साक्षी है, हिरण्यगर्भ की अव्यक्तअवस्था है और सूक्ष्म-व्यापार है, मेरा व्यक्तरूप और त्रिलोकीस्थान है अर्थात् जिस देश में मेरा वास है उससे ऊपर किसी आकारका दर्शन सिद्ध नहीं होता और नामभी नहीं बनसक्ता और जब नाम और रूप की प्रतीति नहो तो जगत्के कार्य नहीं सिद्ध होसक्ते इसी कारण मैंने पवन के अन्तर सूर्य का रूप धरा है और रूप-द्वारा नाम का प्रकाश किया है यह प्रकाश संपूर्ण आकाश को दीप्तमान नहीं करता कि उसमें ऐसे स्थान का होना संभव है जहां तक सूर्य की किरणें नहीं पहुंचतीं और सदा अंधकार बना रहता है, मेरी उष्णता से जलकी उत्पत्ति है और जल से क्रमानुसार पृथिवी उत्पन्न हुई है जिनका नाम सूर्य चंद्र और पृथिवीमंडल संसार में प्रसिद्ध है पंचमहाभूत के मध्य मेरा निवास है अर्थात् आकाश और पवन एक ओर और जल और पृथिवी दूसरी ओर हैं, मेरी मूर्तिको देखने से निश्चय होगा कि सूर्य के पहिये के बारह आरे हैं जिनको द्वादश

राशि कहते हैं और प्रत्येक आरे के सन्मुख पृथिवी का गोलाकार बना हुआ है जो उन राशियों में पृथिवी के बारह स्थानों को दिखाता है और वह पहिया पटवत पड़ा हुवा है उसपर खड़ा हुआ दूसरा पहिया पृथिवी के चारों ओर फिरता है जिसे चन्द्रचक्र कहते हैं जब पृथिवी फिरती हुई बारा राशों में जाती है तब चन्द्रमा भी अपने चक्रपर फिरता हुवा उसके साथ साथ जाता है पृथिवी एक वर्ष द्वादश मास अथवा तीनसैपैंसठ दिनमें बारा राशि में चक्र करके फिर उसी स्थान पर जहाँ से चलीथी आजाती है और पृथिवी के बारह स्थानों के भेद से सूर्य बारह प्रकार का दृश्यमान होता है इसकारण सूर्य के बारह नाम कहे जाते हैं; मैं व्यक्त और अपरोक्ष होकर भूमंडल और चन्द्रमंडल को अपनी आकर्षणशक्ति द्वारा चक्रवत् फिराताहूँ और उनको प्रकाश देताहूँ पृथिवीपर जो मेरा प्रकाश पड़ता है वह दिनका रूप होकर भासता है तथा मेरे प्रभाव से चन्द्रमा की ज्योति भी सिद्ध होती है कि यह अपना प्रकाश नहीं रखता और जितने तारागण रात्रिसमय दीखते हैं उन्मेंभी मेरे प्रकाश से चमक उत्पन्न होती है जैसे इस पृथिवी से अनेक तारे चमकते हुवे बिन्दु समान छोटे दीखते हैं वैसेही अन्य तारागणों से यह पृथिवी उतनीसी प्रतीत होती है मेरी शक्ति से पृथिवी घूमती हुवी मेरे चारों ओर चक्रवत फिरती है उसकी घूम एक दिन रात को सिद्ध कराती है और उसका चक्र एक वर्ष के समय को दिखलाता है—

चन्द्रमा एकमास में जिसका साढ़े उनतीस दिनका अनुमान है पृथिवी के चारों ओर अपना चक्र पूरा करता है और सत्ताईस स्थानों में से होता हुवा जहाँ से चलाथा वहाँ फिर आजाता है और इन सत्ताईस स्थानों का नाम सत्ताईस नक्षत्र है, परन्तु संक्रान्ति के प्रमाण से विधि मिलाने के निमित्त चन्द्रमा के पहिये के भी बारह आरे माने गये हैं जो उन्हीं राशियों के नाम पर स्थापित हुवे हैं प्रत्येक नक्षत्र के चार पाद हैं और उनको सत्ताईस गुणा करने से १०८ का अंक बनता है जो चन्द्रमा के मासिकचक्र का परिमाण है प्रत्येक राशि में सवादो नक्षत्र अर्थात् नौ पाद व्यतीत होते हैं जिनके बारहगुणा करनेपर वही १०८ का अंक सिद्ध होता है और यह संक्रांति की गणित के अनुसार है प्रत्येक राशि के जो नौपाद ऊपर वर्णनहुए हैं उनमें से उस राशि में किसी नक्षत्र के सम्पूर्ण पाद और किसी के भाग व्यतीत होते हैं परन्तु चार राशियों के अन्त में नौ नक्षत्रों के ३६ पाद समाप्त होने के कारण नक्षत्रों के पादों का क्रम फिर उसी विधि से बनता है और ऐसा मिलाप चन्द्रमा के एकमास में तीनबार होता है क्योंकि ३६ को तिगना करने से १०८ पाद का चक्र पूरा होजाता है—

एक मास में चन्द्रमा के सत्ताईस दर्शन होते हैं और जब चतुर्दशी अमावस्या और परेवा को सूर्य और चन्द्रमा दोनों एक राशि में आते हैं तो तीन दिन चन्द्रमा का दर्शन नहीं होता चन्द्रमा ढाईदिन के अनुमान एकराशि में रहता है और

साढ़े उनतीसदिन का मासिक अनुमान लेके उसका वर्ष ३५५ दिन का मानाजाता है सूर्य के मास का अनुमान साढ़े तीस दिन का है और उसका वर्ष ३६५ दिन का होता है इन दोनों की गति की विधि मिलाने के निमित्त ३६५ और ३५५ जोड़े जाते हैं और इस प्रकार ७२० का अङ्क सिद्ध होताहै उसका अर्धभाग लेकर के ३६० के अंकका नियम बांधाजाताहै और उस के अनुसार सर्व तारागणों के चक्र और उदय अस्त सिद्ध होते हैं यह अंक काल और देश दोनों का परिमाण है और इस के चतुर्थभाग अर्थात् ९० का अंक त्रिकोणविद्या का अधार बना है और छटाभाग अर्थात् ६० का अंक और बारवाँ भाग अर्थात् ३० का अंक प्रत्येक त्रिकोण में मिश्रित रूप से अवस्थित है—

३६० के अंक के परिमाण से सूर्य के ३ वर्ष का अंक १०८० सिद्ध होता है अर्थात् चन्द्रमा के सिद्ध कियेहुए अंक पर एक बिन्दु बढ़ती है कारण यह है कि पृथिवीमण्डल पहला शून्य है चन्द्रमण्डल दूसराशून्य और सूर्यमण्डल तीसराशून्य है और इसविधी से जो चन्द्रमण्डल का १०८ का अंक है वह सूर्य मण्डल में पहुँचकर १०८० होजाता है तात्पर्य यह है कि सूर्य के ३६ मासमें चन्द्रमा के ३७ मास व्यतीत होते हैं और सैंतीसवां मास अधिक मास कहा जाता है, चित्र को विचारने से सिद्ध होगा कि सूर्य और पृथिवीमण्डल के मध्यमें तीन नीलेरंग के चक्र बनेहुए हैं जिनपर तीनजगह ३५५ का अंक लिखाहुवा है उनमें से सबसे बाहर वाले चक्र का वर्णन इस

प्रकार है कि जब पृथिवी और चन्द्रमा किसी एक राशि से अपना अपना चक्र आरम्भ करतेहैं (जैसे इस चित्रमें मेष राशि से दिखाया गया है) तो पृथिवी ३६५ दिने के व्यतीत होने पर फिर उसी स्थानमें आजाती है जहाँ से चलीथी परन्तु चन्द्रमा अपनी शीघ्र चाल से ३५५ दिन में चक्र पूरा करचुक्ता है और पृथिवी को अपने वार्षिक चक्र के पूरा करनेके लिय दस दिन रहते हैं जिसकाल में वह अपने दूसरे चक्र पर दस अंश के परिमाण से आगे निकलजाता है इसी प्रकार वह अंदर के दोनों चक्रों पर चलताहुवा दस दस अंश बढ़जाता है और तीन चक्रों के अन्त में तीस अंश अधिक चलकर एक अधिकमास को उत्पन्न कराता है सारांश यह है कि ऊपर वर्णन की हुई अंकविद्या की सहायता से तीन वर्ष के समय में पृथिवी और चन्द्रमा के चालकी घटत बढ़त बराबर हो-जाती है और ऋतु आदिक के अवसर का भेद निकलजाता है और सर्वतिहवार अपने समय के अनुकूल आते हैं-

मेरी चलायमान मूर्तिकी अनेकचित्र आकाशके पत्रपर खिचतीरहती हैं और प्रत्येक चित्र में सूर्य चन्द्र पृथिवी और अन्य तारागणों के स्थान नयेढंग के होते हैं अर्थात् एक क्षणमें जो मेरी मूर्ति का रूप होता है वह दूसरे क्षणमें तारा-गणों की निरन्तर चालों से पलटाहुवा होता है, जैसे किसी लम्बे जन्मपत्र के गोले को देखने के निमित्त एक ओर से खोलते और दूसरी ओर से लपेटते जाते हैं इसीप्रकार अनु-भव और विचार से मेरी प्रतिक्षण पलटनेवाली मूर्तिका एक

दर्शन ३६ वर्ष पर्यन्त सिद्ध होता है जिसदर्शन में भूतकाल लिपटा हुवा और भविष्यत्काल खुलता हुवा वर्तमानकाल के सन्मुख प्रतीत होता है; इस चित्रके देखने और विचारने से आप लोगों को प्रजापति शब्दका लक्षार्थ स्पष्ट होगा और जैसे त्रिलोकी और खगोल मेरे देह के अन्तर्गत हैं उस का मर्म जाना जायगा इस कारण अब मैं अपने कथन को समाप्त करके सूर्यनारायण से जिन्हें मेरा अंग समझना चाहिये प्रार्थना करता हूं कि वह अपनी तेजमयी मूर्ति का दर्शन देके सभा को कृतार्थ करें-

॥ सम्वत्सर चक्र ॥

सूर्यनारायण बोले कि साधारण मनुष्यों को मैं एक चमकताहुवा गोलासा दीखताहूं जो पृथिवी के चारों ओर फिरता है परन्तु विद्वान मुझको ब्रह्मकी साक्षात मूर्ति मानते हैं और मेरे अनन्ततेज को भली प्रकार ध्यान करते हुवे चकित होजाते हैं और अपनी वृत्तिको मुझमें लीन करके सूर्यलोक से ऊपर के लोकों का अनुभवी दर्शन करते हैं; जैसे द्वारपाल की आज्ञा बिना कोई घरमें नहीं घुससक्ता वैसेही मेरी सहायता बिना ब्रह्मलोक की प्राप्ति दुर्लभ है जिनकी पहुंच मुझ तक नहीं होतीहै वह चन्द्रलोक तक जाकर फिर मर्त्यलोक में लौट आते हैं और चक्र में रहते हैं यह बचन वेद उपनिषद और महापुरुषोंका सिद्ध किया हुवा है और ठीक है, मेरी मूर्ति के विचारने से प्रतीत होगा कि दिन रातका भाव मुझ में नहीं जिससे काल का अनुमान किया जावे मैं नित्य एक रूप से अवस्थितहूं और अपने अनन्त तेज से पृथिवी चंद्रमा और अन्य तारागणोंको प्रकाश देताहूं और उष्णता पहुंचाताहूं जिनके द्वारा उनके सब कार्य सिद्ध होते हैं अब जो मेरा सम्बन्ध पृथिवी के साथ है उसका वर्णन इस प्रकार है कि पृथिवी की एक घूमसे दिन और रात्रि का भाव होताहै अर्थात् उसका जौनसा अर्धभाग सूर्यके सन्मुख आताहै उसमें दिन भासता है और जो उसके दूसरे ओर होताहै वहाँ रात्रि की प्रतीती होती है पृथिवी का धुरा चकई की भांति खड़ा

हुआ नहीं फिरता शिशुमार (पानी के जन्तु) के समान तिर्छा होके चक्रवत फिरता है और उसके तिर्छेपन से दिनरात की घटत बढ़त होती रहती है सूर्य और पृथिवी के आकारों के मध्य में बारह घरों के अन्तर पीलेरंग के बारह चिन्ह दिखते हैं और वह दिनके घटे और बढ़े परिमाण को संवत्सरपर्यंत जताते हैं और इसी प्रकार पृथिवीके आकारों के बाहर बारी काले चिन्ह रात्रि के घटे और बढ़े परिमाण को बताते हैं अर्थात् दिन और रात दोनों का परिमाण ६० घड़ी अथवा २४ घंटे का है परन्तु इस समय के अन्तर जब दिन बढ़ता है तो रात घट जाती है और जब रात बढ़ती है तो दिन घट जाता है, मकर की संक्रांति में रात सबसे बड़ी और दिन सबसे छोटा होता है और कर्क की संक्रांति में दिन सबसे बड़ा और रात सबसे छोटी होती है मेष और तुला की संक्रांतों में दिन और रात्रि का परिमाण एकसा होता है-

काले चिन्हों के बाहर मेष वृषादि १२ राशियों की मूर्तियां इस चित्र में बनी हुई हैं और वह आकाश के उस देश को १२ कल्पित भागों पर विभक्त दिखाती हैं जिसमें पृथिवी सूर्य के चारों ओर चक्रवत फिरतीहै मूर्तियों के परस्पर भेद का कारण यह है कि ज्योतिषविद्या के सिद्धकरनेवाले प्राचीन ऋषियोंने अपने पुरुषार्थ द्वारा संवत्सर पर्यन्त रात्रि के समय आकाश को देखा है और उसके पृथक् देशों में तारों के समूह से १२ आकार बनतेहुवे पाये हैं जिनके अनु-सार उन्होंने राशियों की मूर्तियाँ स्थापित की हैं और उनके

नाम रखे हैं १२ राषियों को १२ झन्डियों के समान जानना चाहिये कि उनके द्वारा पृथिवी से आकाशमार्ग नापा गया है परंतु इसकाल में पुरुषार्थ और विचारशक्ति के निर्बल होने से मनुष्य ज्योतिष के सिद्धांतों को समझ नहीं सक्के उसका शोधन तो कैसे करसकें ज्योतिष ब्रह्मविद्या का अंग है और तत्ववित होनेके लिये इसका विचारना अवश्य है—

राशियों के बाहर चैत्र वैशाखादि मास चंद्रमा की गति के अनुसार दिखायेगये हैं उनका समय राशियों से मिलान नहीं खाता अर्थात् चंद्रमास और राशियों का संबंध थोड़ा थोड़ा पलटता रहता है परंतु तीन वर्ष के अंत में दोनों का समयभेद जाता रहता है, जैसे सूर्य के पट चक्र में राशियों की १२ झंडियों का लगा होना ऊपर कहा गया है इसी प्रकार चंद्रमा के चक्र की दिशामें २७ झंडियाँ जिनका नाम नक्षत्र है सिद्ध की गयी हैं और इन दोनों से आकाश की प्रत्येक देश का विभाग होजाता है और सर्वग्रहों के स्थान निश्चित होते हैं राशियों के पटचक्र पर चंद्रचक्र खड़ा होने के कारण सूर्यलोक से चंद्रलोक ऊंचा कहा जाता है—

चंद्रमास के बाहर की ओर षट ऋतुवों के टुकड़े दिखलायेगये हैं जिनके मिलने से एक वर्ष बनता और जिनका समय दो दो संक्रांतियों के तुल्य है और रंग पृथक पृथक है, प्रथम बसंत का रंग पीला है क्योंकि उसऋतु में जो सूर्य की किरणें पृथिवी पर पड़ती हैं वह पीलेरंग की दीखती हैं और

उनके अनुसार सरसों आदिक पीले रंगके फूल अत्यंत खिलते हैं,

दूसरी ग्रीष्मऋतु है जिसमें सूर्यकी किरणों का रंग लाली लियेहुवे होता है और सारी पृथिवी तप्तहुई दिखलाई देती है-

तीसरी वर्षाऋतु है जिसके अनंतर सूर्यकी किरणें धुंधली होजाती हैं और वर्षाहोकर सर्ववृक्ष और बूंटियाँ धुलजाती हैं और विशेष हरेरंगकी दिखती हैं—

चौथी शरदऋतु है जिसमें अन्नादिक पकजाते हैं और मटियाले रंगको धारणकरते हैं-

पांचवीं शिशिरऋतु है जिसमें सूखीशीत पड़ती है और अकाश अत्यंत नीला दिखता है—

छटी हेमंतऋतु है जिसमें वर्षासहित शीतपड़ती है और आकाश जलवत भूरेरंगका भासताहै; षटऋतुवोंके रूपपंचतत्वों के विशेष और सामान्य भावसे इसप्रकार बनते हैं-

ऋतु	विशेषभाव			सामान्यभाव	
वसन्त	आकाश	पवन	पृथिवी	अग्नि	जल
ग्रीष्म	,,	पवन	अग्नि	जल	पृथिवी
वर्षा	,,	अग्नि	जल	पवन	पृथिवी
शरद	,,	अग्नि	पृथिवी	पवन	जल
शिशिर	,,	जल	पृथिवी	पवन	अग्नि
हेमन्त	,,	पवन	जल	अग्नि	पृथिवी

ऋतुवों के चक्र के बाहर एक और चक्र बनाहुआ हैं जिसके तीन भाग पृथक पृथक रंग के हैं और वह एकवर्ष के तीन समयों को दिखाते हैं उनके नाम ग्रीष्म वर्षा और शिशिर कहलाते हैं और प्रत्येक समय में दोदो ऋतु मिश्रित हैं अर्थात् बसन्त और ग्रीष्म दोनों ग्रीष्मकाल में गिनेजाते हैं वर्षा और शरद वर्षाकाल के अन्तर्गत हैं शिशिर और हेमन्त को मिलाकर शिशिरमात्र कहते हैं इन समयों का विभाग चन्द्रमास के अनुसार सिद्धहुवा है; सबसे ऊपर वाले चक्र के दोभाग हैं जिनमें से एक लाल और दूसरा काले रंगका है लालभाग उत्तरायण और कालाभाग दक्षिणायन को दिखाता है और प्रथम देवताओंका दिन और द्वितीय देवताओं की रात्रि मानागयाहै वास्तव में जब मेरा स्थान पृथिवी से उत्तर दिशा में होताहै तब भूमण्डलकी उत्तरवाली चोटी पर छःमासपर्यन्त दिन रहता है और दक्षिण वाली चोटी पर छःमास रात्रि रहती है इसी प्रकार जब मैं पृथिवी के दक्षिण की ओर होताहूं तब भूमण्डलकी दक्षिणवाली चोटीपर छःमास का दिन और उत्तरवाली चोटी पर छःमास की रात्रि व्यतीत होती है-

इसी विधि से दिन और रात्रि के अवसरका भेद पृथिवी मध्य देशों की ओर घटता जाता है और भारतवर्ष में बड़े से बड़ा दिन ३५ घड़ी का और छोटी से छोटी रात्रि २५ घड़ी की उत्तरायण में होजाती है और दक्षिणायन में रात्रि ३५ घड़ी की और दिन २५ घड़ी का होजाता है-

दिनके बड़े होने से मैं दीर्घ कालतक पृथिवी को तपाता

हूं और इस कारण ग्रीष्म समय बनता है, काल के अन्तर रात्रिके अधिक होने से मेरी किरणें पृथिवी पर थोड़ी समय पड़ती हैं जिस कारण शीतकी वृद्धि होजाती है, जिस समय दिन और रात्रि परस्पर तुल्य होते हैं तब उष्णता और शीतका समभाव रहता है और ३० घड़ी के प्रत्येक दिन और रात होते हैं उस समय मेरा स्थान पृथिवी की मध्य दिशा में समझना चाहिये-

मेरे प्रभाव से दो आयन, तीन समय और छः ऋतु रचे जाते हैं और रात्रि और दिनका विभाग सिद्ध होताहै और शीत और उष्णता और वर्षा द्वारा अनेक प्रकार के अन्नकी उत्पत्ति होकर प्राणियों का जीवन भूलोक में बनता है और जगत की सारी क्रिया सिद्ध होती हैं भूमण्डल के निवासियों का मलविक्षेप मुझमें प्रवेश नहीं करता कि मेरी शक्ति जिस का नाम पावक है सर्व अशुद्धियों को दग्ध करदेती है और मृतक देहका दाह संसार में चार प्रकार से होताहै पवनदाह अग्नि-दाह, जलदाह और पृथिवीदाह उनमें से अग्निदाहसे देहके परमाणु बहुतशीघ्र शुद्ध होकर अपने अपने तत्वों में जामिलतेहैं और उन से किसी प्रकारकी अशुद्धि और रोग नहीं फैलता और अन्य तीन प्रकार के दाहों से देह के परमाणु विकार को प्राप्त होकर बहुत कालके पीछे अपने तत्वों में पहुंचते हैं और मृतक देह में जो रोग अथवा विकार होते हैं वह और स्थानों में फैलसक्ते हैं-

मैंने जो ऊपर आयनों का वर्णन किया है उसका संबंध मेरी स्थूल मूर्ति से है कि चर्मदृष्टि रूपमात्र को दिखाती है

परन्तु विचार और अनुभव से उत्तरायण और दक्षिणायन के अर्थ विलक्षण सिद्ध होते हैं, यदि यह माना जावे कि उत्तरायण के समय जो मनुष्य देह का त्याग कर्ता है वह अवश्य ब्रह्मलोक में पहुंचता है और जो दक्षिणायन में मृत्यु को प्राप्त होता है वह पितृलोक में जाता है तो संसार का पुरुषार्थ ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के निमित्त समय आधीन होजाता है और ज्ञानी और अज्ञानी की अवस्थाओं में अन्तर नहीं रहता ऐसी कल्पना अनिश्चयरूप और मिथ्या है, अब आप-लोग मेरी सूक्ष्मगति को अध्यात्म में विचारें कि मेरा उदय और अस्त प्रत्येक श्वास में होता है और इन दोनों अवस्थाओंका वर्णन अग्नि और धुआँ, दिन और रात, शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष, उत्तरायण और दक्षिणायन आदि दो दो शब्दों के संयोग से महात्माओंने किया है प्रथम गति को अनुभव का स्वरूप और दूसरी को श्रुतिका रूप जानना चाहिये जिन महापुरुषों को धारणा द्वारा अनुभव सिद्ध होजाता है वह ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं और जो श्रुतिद्वारा संकल्प में बंधे रहते हैं उनकी ब्रह्मलोकतक पहुंच नहीं होती और उनका चन्द्रमंडल में प्रवेश होताहै और संकल्प के बीज से जो उनमें सूक्ष्मरूप होकर रहता है वह फिर मर्त्यलोक में खिंच-आते हैं यही पित्रोंका मार्ग कहलाता है-

सारांश यह है कि ज्ञानकी अवस्थाको उत्तरायण और अज्ञान की गतिको दक्षिणायन का शब्द जताता है और बुद्धिमानों के लिये इतनाही वर्णन बहुत कुछ दर्साता है इस कारण मैं अपने व्याख्यान को समाप्त करके चन्द्रलोक के स्वामी से प्रार्थना करताहूं कि वह अपनी चित्र सभाको दिखावें-

चन्द्रचक्र

वरुण देवताने चन्द्रमा का रूप धरके कहा कि मेरी कलाओंका दर्शन तो आप लोगों को इस चित्र से होसक्ता है परन्तु मेरी शक्तियों का बोध विचार द्वारा प्राप्त होताहै मैं सूर्य और पृथिवी के मध्यमें चक्र बाँधकर पृथिवी के चारों ओर फिरताहूँ और साढ़ेउनतीस दिनमें इस चक्रको पूरा करके दूसरे चक्रका आरंभ करता हूं और पृथिवी सूर्यकी परिक्रमा करती हुई जैसे जैसे अपने अधिष्ठान को बदलती जाती है मैं भी बदलता हुआ साथ जाताहूँ अमावस्या को मेरा स्थान सूर्य और पृथिवी के मध्य में अर्थात् एक राशि में होता है इस कारण मेरा जो अर्धभाग सूर्य के सन्मुख होकर दीप्तमान होता है वह पृथिवी के निवासियों की दृष्टी से हटा रहताहै और नहीं दीखता, पूर्णिमाको पृथिवी मेरे और सूर्यके बीच में आजाती है इस हेतु से मेरा वह अर्धभाग जिसपर सूर्यकी किरणें पड़कर चमक देती हैं पृथिवी के निवासियों को संपूर्ण दीखता है, चक्र के अन्यस्थानों का इस प्रकार वर्णन है कि ज्यों ज्यों मेरा स्थान सूर्य से दूर होता जाताहै उसी के अनुसार मेरा दीप्तमान भाग पृथिवी के सन्मुख आता जाताहै और पृथिवी के निवासियों को प्रतिदिन बढ़ता हुवा दृश्यमान होता है और जब मैं चक्र करता हुआ सूर्य के समीप आता तो मेरा दीप्तमान अर्धभाग पृथिवी की ओर से हटता जाताहै और उसके निवासियों को घटता हुआ दिखता है, यों तो सूर्यदेवका प्रकाश मेरे आधे आकार पर नित्य रहता है और

दूसरी ओर के आकार पर नित्य अँधेरा होता है परन्तु भूमंडल के रहनेवालों को स्थानों के भेदसे मेरी मूर्तियाँ ऐसी घटीबढ़ी दीखतीहैं जैसी इसचित्रमें प्रत्येक तिथिके सन्मुख बनी हुई हैं, ऊपर वर्णनकी हुई विधि से सत्ताईस दर्शन सिद्ध होते हैं और तीनदिन अर्थात् चतुर्दशी अमावस्या और प्रतिपदा को मैं सूर्यके साथ एक राशीमें रहताहूँ और अपना दीप्तमान भागका दर्शन नहीं देता, सूर्यदेवताकी बारहराशियाँ आकाश की लम्बाई और चौड़ाई को दिखाती हैं और मेरे सत्ताईस नक्षत्र उसकी उँचाई को जिताते हैं और इन दोनों प्रकार के विभाग से सर्व आकाश और उसके अन्तरके तारागणोंके स्थान निश्चित होते हैं और तारागणों के उदय और अस्तका अनुमान किया जाता है, जब मैं पृथिवी के नीचेकीओर से सूर्य का प्रकाश लेताहूँ और अपनी कलाओंको बढ़ाताहूँ वह पन्द्रह दिन शुक्लपक्ष के कहेजाते हैं जिस समय मैं पृथिवी के ऊपर की ओर से सूर्य के प्रकाश को लेताहूँ उन पन्द्रह दिनका नाम कृष्णपक्ष है इन दोनों पक्षों को क्रमसे देवताओं और पित्रोंका दिन उपनिषद आदिकने वर्णन कियाहै और उसके अर्थ सूर्यनारायण आप लोगों को भली प्रकार समझाचुके हैं, मेरा स्थूलाकार पृथिवी से छोटा है और इस हेतुसे मेरे दिन और रातका प्रमाण चौबीस घंटेसे न्यूनहै मेरा मंडल पृथिवी के समीप है और उसको घेरे हुवे है और मेरी शक्ति जिसका चंद्रज्योति नामहै पृथिवी के परमाणुवों को अण्डाकार ठहरायेहुवे है अर्थात् सूर्यनारायण अपनी किरणों द्वारा जलके परमाणुवों को पृथिवी से खेंचते हैं और मैं उनको अपने शीतल स्वभाव

से अपने मंडल में रोकलेताहूं और वर्षा के रूपमें भूमंडलको लौटादेताहूं जिस करके पृथिवी के सर्व स्थावर और जंगम का भाव बना रहता है और उनके सर्व व्यवहार सिद्ध होते हैं और औषधियों का पोषण होनेसे संसार के जीवोंकी पालना होती है, मेरा स्थूलरूप जल और सूक्ष्म रूप मन है और मेरे कारणरूप का नाम शान्ति जानना चाहिये स्थूलरूपका वर्णन ऊपर होचुका है मेरे सूक्ष्मरूपका यह वृत्तान्त सुनिये कि मन चंचलस्वभाव वाला होनेके कारण सदा संकल्प और विकल्प को उत्पन्न करता रहता है और देहधारियोंको अनेक क्रियाओं में लगारखता है, उसके ठहराने का साधन वैराग्य और अभ्यास है जिनकी सहायता से समरूप शान्ति का अमृत मिलता है अध्यात्म में विचारनेसे प्रतीत होगा कि सूर्यमंडल में मनकी वृत्ति की प्राप्ति मेरी सहायता बिना नहीं बनती अर्थात जब धारणा द्वारा मन निस्संकल्प होकर शुद्ध होता है तब जैसे बादलके हटजाने से सूर्य दिखाई देताहै वैसेही आन्तर्यदृष्टि से अग्निज्योति का प्रकाश दृश्यमान होताहै, आन्तर्यदृष्टिका आशय देहकेअन्तर किसी पंचभौतिक अंगका देखना नहीं है परन्तु प्राणोंकी गतिपर श्रुतिका लगाना है तदनन्तर प्राणोंके प्रेरक चैतन्यके शान्तःस्वरूपका अनुभव होताहै; अब मैं अपने वर्णनको दीर्घकरना नहींचाहता और इतनेही पर समाप्त करके कुवेरदेवता से निवेदन करताहूं कि वह अपनी मूर्तिका दर्शन कराके सभाको प्रसन्नकरें—

॥ भूगोल ॥

कुबेरदेवता भूमण्डलकी चित्रको दिखाकर कहने लगे कि यह मेरी स्थूल मूर्ति है और इसमें मेरी शक्ति विशेष करके व्याप्त है परन्तु मैं उस सूक्ष्मरूप से जो परमाणुओं का समूह होके देखने में नहीं आता भूगोल के चारों ओर फैलाहुवाहूं, यह पृथिवी मनुष्यों को चटाईसी बिछीहुई दिखती है कारण यह है कि उसका अण्डाकार बहुत बड़ा है और जो उसका छोटासा भाग दृष्टीगोचर बनता है उसमें गोलाईका अनुमान नहीं होसक्ता यथार्थ में पृथिवी का गोल आकार है जो आकाश के अन्तर सूर्यकी परिक्रमा करताहै और जिसकानाम इसीहेतुसे प्राचीनमुनियोंने भूगोल और ब्रह्माण्ड रखाहै, भूगोल की स्थिति पवन शक्तियोंके समूह के आधीनहै और वहशक्तियाँ सर्व तारागणों के परस्पर आकर्षण संबन्ध को सिद्ध कराती हैं और उनकी चाल सर्पकी भांति होनेके कारण पृथिवी का शेषनागपर ठहरना अलंकार रूपसे वर्णनहुआ है जिस आकाश में यह अण्डा फिर रहा है वहाँ ऊपर और नीचे का भाव नहीं कि सब ओर तारागण भरेहुवे हैं जो रात्रिसमय दिखते हैं और दिनको सूर्यका तेज बलवान होनेसे दृष्टि में नहींआते--

पूर्वदिशा सूर्यके उदय से मानीजाती है और पश्चिम उसके अस्तसे जानी जाती है और पूर्वकी ओर मुखकरने से दाहेंहाथ दक्षिण और बाहेंहाथ उत्तर दिशायें कल्पित हुई हैं उत्तरदिशाको ध्रुवताराभी सिद्ध करता है इन दिशाओंके मध्य

में चारकोण मानेगये हैं जिन्हें अग्नि नैऋत्य वायव्य और ईशान कहते हैं इस प्रकार आठ दिशा बनती हैं और ऊपर और नीचेके ओर को मिलाकर सम्पूर्ण दस दिशा होजाती हैं—

इस पृथिवीके आद और अन्तका सिद्धकरना असंभवहै, कि यह तो वहीकहसक्ता है जिसने उसे बनते हुवे देखाहो सो मनुष्य देहका बनना पृथिवी से पहले अप्रमाण है और मनुष्य की आयु इतनी नहीं जो कोई मनुष्य सृष्टीकाल का जीता मिले और अपने आंखों देखी कहे इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं बनता और संसार का आदि नहीं कहा जासक्ता—

यदि कोई कहे कि जगत की उत्पत्ति बुद्धि से प्रतीत होती है तो उसका यह उत्तर है कि बुद्धि आकारमात्र को ग्रहण कर सक्ती है, निराकार से आकार का व्यक्त होना नहीं बताती, यथार्थ में अनुभवी पुरुषों ने अपनी आन्तर्य दृष्टीद्वारा संसारके सारको जैसा देखा है वैसा बहु प्रकार वर्णन किया है परन्तु समय बोलचाल और परमार्थनिष्ठाके अन्यरूप होजाने से उनके कथन का समझना कठिन होगया है, उन महापुरुषों के बचन प्रत्यक्षप्रमाण और बुद्धिप्रमाण दोनों का निर्णय करके शंका को निवृत्त करते हैं और वास्तवको दिखलाते हैं अर्थात् जब ज्ञान दृष्टी से मायाकी अवस्था पहचानी जाती है तब यह जगत प्रतिबिम्बवत भासता है और कोई पदार्थ सिद्ध नहीं होता जिसका निर्णय किया जावे अथवा सारा ब्रह्माण्ड ब्रह्मकी शक्तिही प्रतीत होता है अन्य वस्तु नहीं बनता—

इस भूमंडल में पर्वत, समुद्र और स्थल तीन प्रकारके स्थान

विशेष करके हैं, जिनमें से पर्वत शिवके तमोगुणी रूपको दरसाते हैं, समुद्र विष्णु के सतोगुणी रूपको दिखलाता है और समभूमि ब्रह्माके राजसी आकार को जताती है, पर्वतकी त्रिकोण मूर्ति होती है, समभूमि में चार दिशायें बनती हैं और समुद्रकी गोल मूर्ति सिद्ध है, पर्वतों पर हिमके जमने से विष्णु का क्षीरसमुद्र सिद्ध होता है और कहीं कहीं समभूमि होने के कारण ब्रह्माका अधिष्ठान प्रतीत होता है, इसी प्रकार स्थल में पर्वत और सरादिक के होने से शिव और विष्णु का बासा दृष्टी गोचर होताहै और समुद्र में टापू और पर्वतों के निकल आने से शिव और ब्रह्माका स्थान बनजाता है, अभिप्राय यह है कि प्रत्येक देवता के राज्य में अन्य दोनों देवताओं को भी अधिकार प्राप्तहै और वह देवता एक दूसरे के अन्तर सदैव विराजमान रहते हैं; इस चित्र में पृथिवी के गोलाकार का आधा भाग एक ओर और दूसरा आधा भाग दूसरी ओर दिखाया जाता है और इन दोनों को मिलाने से सम्पूर्ण अण्डाकार मूर्ति बनती है जिसमें कहीं पर्वत, कहीं स्थल और कहीं समुद्र; ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे नारियल के फल में कहीं उँचाई और कहीं निचाई होती है और कहीं कहीं रेखायें दिखती हैं, पृथिवी का आकार समय समय में बदलता रहताहै, इस प्रकार जहाँ एक कालमें समुद्र था वहाँ पृथिवी और पर्वत निकल आये हैं और जहाँ समभूमि और पर्वत थे वहाँ समुद्र घुस आया है, तथा अनेक देशों की राजधानियाँ पलटती रही हैं और नगरों के नये नये स्थान और नाम रखे गये हैं, इस कारण जो प्राचीन विद्वानों ने पृथिवी का वर्णन किया है और उसके अनेक देशों का परिमाण त्रिकोण विद्या द्वारा सिद्ध किया

है वह इस समय सामान्य मनुष्यों के समझ में नहीं आता परन्तु विचारवान पुरुष दीर्घकाल के व्यतीत होने का अनुमान करके अपनी शंका की निवृति कर लेते हैं और उनके बचनों को यथार्थ मानते हैं--

भूमण्डल चित्र के मध्य में बना हुवा है और उस के चारों सिरों पर चार छोटी गोल मूर्तियाँ हैं जिन में से एकतो अग्निके सामान्य और विशेष भाव के अनुसार पृथिवी का विभाग तीन प्रकार के देशों में दिखाती है और इन का नाम शीतस्थल, समशीतोष्णदेश और उष्णस्थल जानना चाहिये--प्रथम स्थान पृथिवी के उत्तर और दक्षिणवाले सिरों के समीप है जहाँ अधिक शीत सदा बनी रहती है, दूसरा स्थान पृथिवी के मध्य भाग से ऊपर और प्रथम स्थान से नीचे की ओर है जहां उष्णता और शीत का समभाव रहता है, तीसरा स्थान पृथिवी के मध्य भाग में है जिस पर सूर्य की सीधी किरणों के पड़ने से अधिक तपन प्रतीत होती है--

दूसरी गोल मूर्ति समुद्र की लहरों के वेग को दिखाती है अर्थात् उसको विचारने से झट समझमें आजाताहै कि किसप्रकार समुद्र का जल शीतस्थल से उष्णस्थल की ओर नीचे नीचे आता है और ऊष्णता द्वारा हलका होके ऊपर को उठता है और फिर बीचि रूप से शतिस्थल को लौट जाता है, इस प्रकार समुद्र में एक बीची चक्र बन्धता है जो चन्द्रकला के प्रभाव से वृद्धि को प्राप्त होके ज्वारभाटा कहलाता है--

तीसरी मूरति पवनचक्र की है जो प्रथिवीमण्डल को संपूर्ण

घेरेहुवे है और जिसके अन्तर उष्णस्थल की हलकी पवन ऊपर को चढ़ती है और अपना स्थान छोड़कर शीतस्थल की ओर जाती है और शीतस्थल की भारीपवन उष्णस्थल में आकर उस अवकाश को भरदेती है, इस विधी से पवन का एक चक्र बन्धता है जो नित्य चलता रहता है और सर्व प्राणियों के जीवन को सिद्ध करता है--

चौथी मूर्ति हिमरेखा को दिखाती है और हिमरेखा आकाशका वह स्थान है जहाँ से ऊपर चन्द्रज्योति बलवान होने के कारण जलबिन्दु हिम रूपको ऐसे धारण करते हैं जैसे हिमालय की चोटियों पर सदा हिम बनी रहती है और जिस कालमें मेघ जलके परमाणु को अपने उदर में रखकर इस चन्द्रमण्डल में चढ़ जाताहै तब ओलों की वर्षा पृथिवी पर होती है--

यहाँतक पृथिवी मण्डल के बाह्यभाव का वर्णन हुवा है अब आप लोग आन्तर्य दृष्टी करके मेरी महिमा को देखिये कि सब से नीची और छोटी जो गन्ध शक्तिहै उसके क्या क्या उत्तम गुणहैं--

प्रथम मायाकी शक्ति सूक्ष्मसे स्थूल होती हुई मेरे स्थानतक पहुंचती है और आगे नहीं जा सक्ती अतएव पृथिवी के परमाणुवों से अधिक स्थूल कोई वस्तु नहीं है और वह परमाणु सत्य के अधिष्ठान हैं--

दूसरे चैतन्यदेव उस देशमें निवास करताहै जहाँ सर्व शक्तियों का समूह हुवा करता है और पृथिवी वह समूह का देशहै, इस कारण चैतन्य देव मट्टी का देह धरकर राज्य करता है और सब प्रकृतियाँ उसकी प्रजा बनजाती हैं--

तीसरे आत्म ज्ञानकी प्राप्ति पृथिवी के अधिष्ठान में सिद्ध होती है अन्य स्थानों में नहीं बनती और इस हेतुसे देवता भी मनुष्य के साथ ईर्षा रखते हैं अर्थात् जिस प्रकार मनुष्य देह में आत्मा का स्वरूप पहचाना जासक्ताहै और परमानन्द मिलसक्ता है वैसा देवताओं को भी प्राप्त नहीं होता, कि वह तो अपने २ कार्य में नित्य लगे रहते हैं और उनको छोड़ नहीं सक्ते, परन्तु मनुष्य स्वतन्त्र होने के कारण सब पर राज्य करता है--

चौथे मेरी इस कर्म भूमिमें जो कामधेनु का रूप रखती है, चैतन्यदेव जिस वस्तुकी इच्छा करताहै उसको पाताहै और जिस अवस्था को चाहे पहुंच सक्ताहै अन्य लोकमें ऐसा होना असंभव है कि वहाँ न तो कर्म और पुरुषार्थ बनता है और न फल की प्राप्ति होती है यह आधिक्यता भूमण्डल मात्र में है--

पाँचवें जो देहधारी वैराग्य और विवेक द्वारा कर्म और उस के फल का त्यागकरके आत्मस्वरूप का दर्शन करलेते हैं उनकी महिमा यदि आकाश के पत्रपर सूर्य के कलम और चन्द्रमा के मसीपात्र से लिखी जावे तब भी संपूर्ण वर्णन में नहीं आसक्ती--

॥ छायाचरित्र ॥

इस समय एक अंधकार रूपी छलावा सभामंडप के मध्य उठकर कहने लगा कि बहुतकाल व्यतीतहुवा जब देवताओं की पंक्ति में सूर्य और चन्द्रमा के साथ मैंने अमृत पियाथा पर देवताओंने मुझे दैत्य पहचानकर मेरे शरीर के दो टुकड़े कर-डालेथे तबसे मैं चिरंजीव होकर उसी अवस्था में अपनी आयु टेर करताहूं और आज इस धर्मउत्सवका वृत्तांत सुनकर सर्व महाशयों को अपना नाटक दिखाने आयाहूं यदि यह सन्त-जनोंकी सभा मेरे चरित्रका अवलोकन करके प्रसन्न होवे और मुझ दीनपर अपनी कृपादृष्टि डाले तो मैं अपने जन्मको सफल जानूंगा मेरी मूर्तिको देखिये कि उसमें शिर तो कहांपर है और धड़ किधर पहुंचाहै और मैं कैसी चतुराई से अपने दोनों अंगोंको चन्द्रमा और भूमंडलकी ओटमें रखकर सूर्य देवता से आँखमिचौली खेलरहाहूं और कभी उनके सन्मुख नहीं आता कि वह बड़े तेजवान होकर अपनी प्रकाश शक्तिद्वारा मुझ जैसे अन्ध स्वरूपका नाश करडालते हैं इस भयसे मैं अपने अंगोंको छुपाता फिरताहूं और किसी समय भी उनका दृष्टि-गोचर नहीं होता-

साधारण मनुष्य मेरे शिरको राहू कहते हैं और धड़ को केतुके नाम से पुकारते हैं और ऊपर वर्णन किये हुये छायाच-रित्र से चकित होकर ऐसा मानते हैं कि मैं अपनी आसुरी-शक्ति से अवसर पाकर सूर्यको वश करलेताहूं और दुःख देता

हूँ, जिस काल में वह मेरा बलहीन होजाता है तब उसका मेरे ग्रहण से छुटकारा होता है परन्तु जो मनुष्य ज्योतिष विद्यामें निपुण हैं वह मेरे इस इन्द्रजाल से धोखा नहीं खाते और यह समझते हैं कि जिस समय चन्द्रमा का गोला पृथिवी की परिक्रमा करताहुवा उसके साथ एक राशि में आजाता है और सूर्य को अपनी ओटमें लेलेताहै तब सूर्य का दर्शन संसार के लोगों को नहीं होता अर्थात् अमावस्या की तिथि में सूर्य और पृथिवी का मध्यस्थ होकर चन्द्रमा अपनी छाया पृथिवीपर डालता है और सूर्यकी किरणोंको रोकलेता है इसी चरित्र का नाम सूर्य ग्रहण है, प्रत्येक अमावश्याको पूर्वोक्त ग्रहण हुआ करता है परन्तु उसकी प्रतीति भूमंडल के सब देशों में नहीं होती कहीं कहीं होती है और उसमें भी न्यूनाधिकता का भेद रहता है जिसका परिमाण अंशोंसे किया जाता है; मेरा कटाहुआ शिर तो सदैव सोम मंडल के पीछे पीछे चक्रवत् फिरता है किन्तु भूगोल के निवासी उसका खेल कभी कभी देखते हैं जिसमें उनको अपनी काली और नोंकवाली टोपी से डराताहूं और सूर्यभगवान के प्रकाशकी महिमा जताकर धर्म के कामोंमें लगाता हूं, यहांतक तो मेरे उत्तमांग का वर्णन हुआ अब मेरे धड़ का वृत्तान्त सुनिये जो जगत में केतु के नाम से प्रसिद्धहै और जिस का दर्शन मनुष्यों को पूर्णमाकी रात्रि के समय हुआ करता है क्योंकि उस तिथी में मैं भूमंडल की ओट लेकर अपने कटेहुये धड़से चँद्रमाको ऐसा पकड़लेताहूं कि उसका मुख काला और पीला पड़जाता है परन्तु सूर्यभगवान उसके सहायक होकर

उसे मेरे ग्रास से छुटालेजाते हैं और मैं निर्वंश रहजाताहूं, साधारण पुरुष मेरे इसखेल को सत्य करके मानते हैं और मुझे देहवान समझते हैं किंतु तीब्र बुद्धिवाले मर्मको पहचानते हैं और यह जानते हैं कि पूर्णिमाकी रात्रिको पृथिवी सूर्य और चंद्रमाके बीच एकराशि में आकर अपनी छाया से चंद्रमाको ढकलेती है और सूर्यका प्रकाश उसतक नहीं पहुंचनेदेती जिसकारण उसका रूप मलिन होजाता है, फिर जब पृथिवी का स्थान उन दोनों के मध्य से हटजाता है और सूर्यकी किरण चंद्रमाको प्रकाश देती हैं तब चंद्रग्रहण छुटता है-

यहतो मैंने आपको बाह्यग्रहण का अभिप्राय समझाया यदि सर्व महाशय अध्यात्म में विचारें तो वहांभी निश्चय होगा कि मनके संकलपरूपी बादल बुद्धि के शीतल स्वभाव पूर्णचंद्रमा- और चित्तके तेजमय सूर्य को छुपालेते हैं और उनका प्रकाश नुष्यलोक में नहीं होने देते जिस आन्तर्य ग्रहण की शुद्धिके निमित्त शास्त्रादिक ने गोविंद भजन और पुण्यदानका अभ्यास सूर्य और चन्द्रग्रहण की समय विशेषकरके बताया है-

इतना कहकर वह मेघमूर्ति अदृश्य होगया और उसके आवर्ण के हटतेही सूर्यकी क्रान्ति से सारा सभामंडप अधिक शोभायमान हुआ ।

॥ युगव्यवस्था ॥

जब सबदेवता अपनी मूर्तियोंका दर्शन कराचुके और राहू और केतु ने भी अपना चरित्र दिखादिया तब चारोंयुगों ने सभाके सन्मुख अपना चित्र रखा और वर्णन किया कि प्राचीन महात्माओं ने हमारे स्वरूप को जैसा सिद्ध किया है वैसा इस चित्र के विचारने से भलीभांत समझ में आएगा यद्यपि आज कल मनुष्य बुद्धिके बहुधा मलिन और चंचल होजाने से २ आयु के अङ्कों को जिनका अर्थ अतिगूढ़ है नहीं समझते संशय के आधीन होकर सिद्धान्त को ग्रहण नहींकरसक्ते तथापि ऐसों के लिये हमारी चित्रका देखना बहुत हितकारी होगा महात्तमाओं की पंक्ति में से एकने पृश्नकिया कि तुम चार अपनी मूर्तियां पृथक २ क्योंनहीं दिखाते और एकही चित्रमें चारोंस्वरूप को किसलिये मिश्रित करतेहो--

युगों ने उत्तरदिया कि हमारे नामके अर्थ ही जुड़ेहुए के हैं और देश और काल के मिलने से हमारी जुड़ीहुई मूर्ति प्रघटहुई है जिसके सारेभाग नित्य अपने २ अधिष्ठानमें बनेरहते हैं इसलिये वह एकचित्रमें मिलाकर दिखलायेजाते हैं, आन्तर्यदृष्टि करनेपर अध्यात्म में निश्चय होगा कि एक श्वास में चारोंयुगों का बासा है और वह इसप्रकार है कि जिस स्थानसे प्राण की खेंच का आरंभ होताहै वहां सतयुग का निवास है, प्राणका बाहरसे अंदरआना त्रेताकी अवस्थाहै और उसका अंदर आकर ठहरना द्वापर का स्वरूपहै और प्राण का अंतर की ओर से

बाहर बाहरजाना कलियुग की मूर्ति है, जैसे एक श्वासामें चार युग बीतते हैं वैसेही एक दिन में चार प्रहर का प्रमाण बांधा जाता है—

वाह्यवृत्ति से विचाराजावे तो हमारा स्वरूप काल होके प्रतीत होताहै और उसका नियम अनुभवी पुरुषों ने सूर्य चंद्रमा और पृथिवी की अपेक्षा से अंकद्धारा बांधा है अर्थात् चन्द्रमा का वार्षिक चक्र ३५५ दिनका है और सूर्यके वर्षमें ३६५ दिन होते हैं और इन दोनों के जोड़ने से ७२० का अंक बनताहै जिसका अर्धभाग ३६० की संख्या भूमण्डल निवासियों को कालका अभ्यास कराती है परन्तु कालका त्रिगुणात्मकरूप और देश में चारदिशा का विभाग होना अवश्य है इस कारण ३६० को १२ गुणा करने से ४३२० का अंक सिद्ध होता है, अन्य शब्दों में यों कहना चाहिये कि ४३२० दिन अथवा १२ वर्ष भूमण्डल के युगका प्रमाण है, जैसे शून्य में नवशक्तियाँ गुप्तहोके १ को १० बनादेती हैं वैसेही प्रत्येक मण्डलका अनुमान अपने नीचे के मण्डलसे १० गुणा होता है अर्थात चन्द्रमण्डल का युग भूमण्डल के युगसे दसगुणा अधिक है और उसका प्रमाण ४३२०० की संख्या है इसी विधि से सूर्यमण्डल के युगकी संख्या ४३२००० है जिसे कलियुग की आयु मानते हैं।

श्रुतिप्रमाण--उपनिषदों ने एक दिन रात में मनुष्य की श्वास की संख्या २१६०० बताई है और जो एक घड़ीभर की श्वासोंको गिनकर एक दिनरातका अनुमान कियाजावे तो इतनाही होता है किन्तु प्रत्येक श्वासा की दो गति हैं एक बाहर

से अन्दरजाना और दूसरा अन्दर से बाहर आना (जिन्हें प्राण और अपान कहते हैं) इसलिये २१६०० को द्विगुणा करने से ४३२०० का अंक सिद्ध होताहै और एक एक श्वासा के साथ पांच ज्ञानेंद्रिय और पांच कर्मेंद्रिय का व्यापार मिश्रित होनेके कारण पूर्वोक्त अंकको दसगुणा करनेपर ४३२००० की संख्या उत्पन्न होती है—

स्मृतिप्रमाण पलकके खुलने और मिचने में जितना समय व्यतीत होताहै उसे निमेष कहते हैं, १५ निमेष के तुल्य एक काष्ठा होती है, ३२ काष्ठा की एक कला कहलाती है, ३० कला के समान एक मुहूर्त होताहै और ३० मुहूर्त एक दिन रातका प्रमाण है अर्थात एक अहोऽरात्र में १५×३२×३०×३०=४३२००० का अंक निमेष के रूप में सिद्ध होता है—

मनुष्य की पूरी आयु १२० वर्षकी है और एक वर्षके ३६० दिन होते हैं इस विधिसे उसकी सम्पूर्ण आयु १२०×३६०= ४३२०० दिनके तुल्य है और इस संख्याको प्रत्येक दिन के बाराभागों में से संध्या समय के दोभाग घटाकर १० गुणा करनेपर वही ४३२००० मानुषी सृष्टी की आयु का प्रमाण बनता है दिनके १२ भागों में से दो भाग के घटाने का कारण यह है कि सम्पूर्ण दिन रातका छटाभाग प्रातः सायंकी सन्ध्या समय होके व्यतीत होताहै और इससमयमें कुम्भक के अभ्यास द्वारा प्राणका निस्पन्द रूप होजाने पर समाधि की अवस्था प्राप्त होसक्ती है जहाँ कलियुग का प्रवेश नहीं होता, ऊपर वर्णन किये हुए अंकोंका सम्बन्ध इस स्थूल त्रिपुटी से है जिसमें

पृथिवी जल और अग्निका वास है और जो रूपवान होनेके कारण आँखों से दीखती है, स्थूल त्रिपुटी से ऊँचे मण्डलों में जहाँ पवन आकाश और मनका अधिष्ठान है युगोंके अंकोंका विस्तार और रीतिसे है अर्थात् चारयुगों का विभाग कल्पना अन्तःकरण के चतुष्टरूप के अनुसार सिद्धहोती है, कारण अहंकार की अवस्थाको सतयुग जानो और चितके व्यवहार को त्रेता मानो, बुद्धिकी शक्ति से द्वापरका भाव है और कलियुग की रचना मनका स्वभाव है, इसीप्रकार परा, पश्यन्ति, मध्यमा और वैखरी चार बाणियोंका और तुर्य, सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत अवस्थाओंका युगोंसे परस्पर मेलहै जो गूढ़विचार से समझमें आता है--

जैसे अंतःकरणमें किसी रूपका विशेषभाव और किसीका सामान्य भाव होतारहताहै तोभी चारोंरूप अवस्थितहोते हैं वैसेही युगोंकी अधिकता और न्यूनता होनेपरभी चारोंयुग नित्यबने रहते हैं, जिससमय मन बुद्धिको आधीन करलेताहै तबकलियुग प्रगटहोताहै. जब बुद्धि मनको वशकरलेती है तब द्वापरका लक्षण प्रतीतहोताहै जब वह दोनों चित्तके शरणमें आते हैं तब त्रेता का रूप भासताहै और जब वह तीनोंकारण अहंकार में लयहोजाते हैं तब सतयुग का तेज अज्ञानके अंधेरेका नाश करदेता है।

हमारी मूर्तिमें सबके अन्तर पृथिवी का चक्रहै जिसका रंग मटियाला और प्रमाण ४३२० का अंकहै, उसके बाहर अथवा दूसरामण्डल चन्द्रमा का है जो जलकारूप रखता हुवा ४३२०० के अंकको स्पष्ट करता है, तीसरा लालचक्र सूर्यका

है जिसमें ४३२००० का प्रमाण सिद्धहोता है और यहतीनों मिलकर त्रिलोकी कहलाते हैं जहाँपर कलियुग काला सर्पबनकर प्रजाको डसता रहता है और अन्तःकारणका चतुर्थअंश मन प्रधानहोके वैखरीवाणि से कामलेता है।

उसके बाहर हरे रंगका पवनमण्डल है जिसमें द्वापरयुग दो मुखवाले सर्पका रूप धारण करके संसारको भय दिलाताहै पर काठतानहीं अर्थात् अन्तःकरण के दो अंश मन और बुद्धि के प्रगल्भहोने से मध्यमा वाणिका व्यापार सिद्ध होताहै और ४३२००० को द्विगुण करनेपर ८६४००० का अंक बनता है।

पवन मण्डल के बाहर नीलाचक्र आकाश का है और उस में त्रेतायुग अजगर बनके निवास करता हुआ किसीको दुख नहीं पहुंचाता अर्थात् अन्तःकरण के तीन अंश मन बुद्धि और चित्त के संयोग में पश्यन्ति वाणि उत्पन्न होती है और ४३२००० को त्रिगुणा करके १२९६००० का चिन्ह रचती है।

आकाशमण्डल से ऊपर मनका अवर्ण धुंवें के रंगका है और इस अधिष्ठान में अन्तःकरण के सम्पूर्ण अंश मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार के अवस्थित होने से ४३२००० का चौगुणाअंक १७२८००० बनताहै और सतयुग शेषनागकी सहस्र मुख वाली मूर्तिको धारणकिये हुवे अपनी अनन्तशक्ति से सर्व जगत का आधार है–

मनके मण्डल को घेरे हुवे बुद्धि का चक्र है जिसके अन्तर चारोंयुग वर्तमान हैं और जो चारों अवस्थाओंका साक्षी होके अपने मण्डलकी संख्याको ४३२००० का दशगुणा अर्थात्

४३२००० उस विधि से ठहराता है जिसके अनुसार १, २, ३ और ४ के जोड़नेपर १० का अंक बनता है और बुद्धि मण्डल के उपरांत संख्याका अनुमान नहीं किया जासकता, यह अंक विद्या अनुभव सिद्ध है और इसमें जो १० के अंक का विस्तार किया है वह उन दशांगुलों को समझना चाहिये जिनका वर्णन ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में संक्षेपसे हुआ है अर्थात् १ का अंक तो अद्वैतपुरुष का चिन्ह है और २, ३, ४ के अंक उसकी ९ शक्तियों को जिन्होंने सर्वजगत को रचाहै दिखाते हैं—

श्रीब्रह्माजीने सप्तव्यहृतियों के प्रसंग में जो सातवां अधिष्ठान सत्यलोक बताया है वहाँ सतयुग अकालरूपसे नित्यरहता है त्रेता द्वापर और कलियुग त्रिगुणात्मक भावको प्राप्त होके महः जनः और तपलोक में बसते हैं और चित्त बुद्धि और मन द्वारा भूः भुवः और स्वर्लोक में प्रघट होते हैं जैसे ॐकार के अनुस्वार से अकार उकार और मकार निकलते हैं—

ऊपर कहीहुई युगोंकी अवस्था को स्मृतियोंने ऐसे दिखायाहै

कलियुग	१ × ४३२०००	=	४३२०००
द्वापर	२ × ४३२०००	=	८६४०००
त्रेता	३ × ४३२०००	=	१२९६०००
सत्युग	४ × ४३२०००	=	१७२८०००
	१० × ४३२०००	=	४३,२०,०००

और चारोंयुगोंका समय ४३२०००० वर्ष का मानकर ऐसे सहस्रचक्रों को ब्रह्माका एकादिन बताया है अर्थात् ब्रह्माकी आयुःअनगिनत सिद्ध की है—

मन बुद्धि चित्त और अहँकार के अलग अलग व्यापार हैं जिन्हें कृत्य,वृति,श्रुति और नृत्यकहते हैं उनमें से मन संकल्पविकल्प के कृत्य में लगारहता है और संशयात्मक होनेके कारण युगोंकी अवस्था का प्रमाण ऐसे बाँधताहै कि जब ऊपर कहेहुवे ४३२०००० वर्षका चक्र सहस्रवार पूरा होजाताहै तब ब्रह्मा का १ दिनहोताहै और ऐसा एकदिन मानकर ब्रह्मा की आयु १०० वर्षकी होतीहै जिसकाचक्र बारम्बार चलाजाता है अर्थात् मन अपनी विपरीत भावना से अप्रमाण वस्तुको प्रमाण सहित मानलेता है–

बुद्धि अपनी वृत्तिद्वारा निर्णयकरती है कि सहस्रयुगपर्यन्त ब्रह्माका दिनहै किन्तु उसकी सौवर्षकी आयुः सिद्ध नहीं करसक्ती अर्थात् वह ब्रह्माकी आयुः में महीनों और दिनोंकी संख्या को निश्चित न करके द्विविधा में पड़जाती है–

चित्तकी क्रियाका नाम श्रुति है जो सहस्रशब्द को अनन्त संख्या का वाचक सिद्धकरके ब्रह्माके दिन को कालके प्रमाण से अधिक निश्चिय करती है,तात्पर्य्य यहहै कि यदि ४३२०००० के अंकको सहस्र गुणाकरके ब्रह्माके दिन और वर्षका प्रमाण बाँधाजावे और फिर उसे सौगुणाकरके उसकीआयुः निकाली जावे और फिर इसीप्रकार विष्णु और शिवकीआयुः के अंक सिद्ध किये जावें तो शून्योंको बढ़ाते बढ़ाते इतनी संख्या हो जाती है कि उसका अनुमान नहीं किया जासक्ता और उसे अनन्त कहना पड़ता है; जिस समय श्रुति सबओर से सिमटकर निश्चल होजाती है तबदेहधारीको जगत्के आदि और

अन्तकी कल्पना मिटती है और ब्रह्मका अनन्तरूप सर्वत्रभासता है इसीको त्रेताकी अवस्था जानना चाहिये ।

अहँकारकी अवस्था को वर्णन करतेहुवे जो नृत्यका शब्द ऊपर कहा गया उसके यह अर्थ हैं कि जिसकालमें श्रुतिके निरोधसे चिदाकाश का सम्पूर्ण ज्ञान होजाताहै तब चैतन्य-सत्ता का साक्षीभाव निश्चित होता है और नवप्रकृतियाँ उसके सामने नृत्य करती हुई भासती हैं और यह आनन्द की अवस्था सतयुगका स्वरूप है ।

चैतन्यराजा की खुली कचहरीका नाम मन अथवा कलि-युग है और उसकाअन्तः पुर बुद्धि अथवा द्वापर कहलाताहै, उसके एकान्तस्थान का नाम चित्त अथवा त्रेता है और उसका स्वरूप कारण अहँकार अथवा सतयुग है जिसके द्वारा वह सर्वशक्तियों के खेलको देखता हुवा सर्वजगत् का आधार बनता है ।

०

विचार करना चाहिये कि स्मृतिने जो श्रीरामचन्द्र का अवतार त्रेताके अन्तमें और श्रीकृष्णचन्द्रका अवतार द्वापर के अन्तमें वर्णन कियाहै उसका क्या अभिप्रायहै, उसी स्मृतिने यह भी बतायाहै कि श्रीवसिष्ठ महर्षि जिन्होंने श्रीरामचन्द्रजीको उपदेश किया था उनके पुत्र शक्तिजी हुवे उनके पुत्र श्रीपरा-शरस्वामी और उनके पुत्र श्रीवेदव्यास महामुनि हुवे जिन्होंने महाभारत और अनेक ग्रन्थ कृष्णअवतार के समय रचकर संसार में ज्ञानमय दीपक बालदिया, यदि द्वापर का समय ८६४००० वर्षका मानाजावे तो चार सन्तानकी आयुः में इतने

वर्षकी संख्या कैसे व्यतीत होसक्ती है कि बुद्धि दोनों प्रमाणों के विरोध का निर्णय नहीं करसक्ती वास्तव में श्रीरामचन्द्र के अवतार को त्रेतायुगमें इस कारण मानाहै कि उसकी अवस्था पन्द्रह भाग सत् और पांच भाग असत् के लेकर सिद्ध हुई है और श्रीरामचन्द्रजी चित्तवृत्ति के निरोध स्थान में निवास करके अष्ट कला संपन्न और मर्यादा पुरुषोत्तम कहलाये हैं श्रीकृष्णचन्द्र के अवतार का द्वापर में होना इस आशय से माना जाता है कि द्वापरकी अवस्था में दस भाग सत् और दस भाग असत् के समभाव से मिले हुवे हैं और उन्होंने दोनों का साक्षी होकर बुद्धि द्वारा समता योगकी साधना बताई है और अपनेतईं ब्रह्मकी प्रतिष्ठा देकर सोलह कला सम्पन्नकहा है साराँश यह है कि जो युगों के अंक ऊपर बताये गये वह वर्षों की संख्या को नहीं दिखाते किन्तु अवस्थाओं के परस्पर भेद को जताते हैं इतना कह कर युग सभा की एक ओर जाबैठे-

॥ बुद्धि परीक्षा ॥

युगोंके गूढ़वृत्तांत को सुनकर सर्वसभाने उनको धन्यवाद दी और कहाकि जो तुह्मारा अति उत्तम आशय है उसके ग्रहण करने के निमित्त अनुभव की आवश्यक्ता है जिसका प्राप्त होना धारणा बिना कठिन है अर्थात् जबतक मानुषी बुद्धि संशय से निवृत्त नहोजावे तबतक वह काल के चक्र से नहीं निकलती और लक्षार्थ को निश्चय नहीं करसक्ती–

शुक्राचार्य सभामें खड़े होकर कहने लगे कि युगोंने जो अंतःकरणका कथन किया है उसकी तो पंचभौतिक आकृति नहीं है फिर वह अंतःकरणचतुष्टय क्योंकर सिद्ध किया गया है और किस उपाय से उसका स्वरूप प्रत्यक्ष दीख सक्ता है–

सभा में से बृहस्पतिजी ने उठकर उत्तर दिया कि चतुष्ठय शब्द के अर्थ चार के हैं, अन्तः अव्यक्त का नाम है और करण उस वस्तुको कहते हैं जिसके द्वारा क्रिया बनती है, अंतःकरण का प्रादूर्भाव इस विधि से हुआ है कि चैतन्य नव प्रकृतियोंका साक्षी होकर जब अपनी छाया प्राणों के अल्पज्ञ रूपमें डालता है तो चैतन्य मण्डल के प्रतिबिम्ब से चित्त अथवा चैतन्यता, अहंकार के मण्डल के प्रतिबिम्ब से अहंभाव अथवा प्रेरणा, बुद्धिमंडल से बोध अथवा शीतलता और मनके चक्रसे मनन अथवा फुरना सब देहधारियों में उत्पन्न होती है और इसहेतु से अंतःकरण को सतोगुणी कहते हैं–

जबतक यह चारों क्रिया चैतन्यता, प्रेरणा, बोध और

मनन प्राणमें रहते हैं तबतक जाग्रत अथवा स्वप्नकी अवस्थाओं मेंसे किसी एक की रचना दिखाई देती है जब यह क्रिया प्राण में लीन होजाती हैं तब सुषुप्ति की मूर्छा होती है और कुछ दृश्यभाव नहीं रहता फिर जब प्राणों से अंतःकरण उदय होता है तब यह सारी सृष्टि दीखने लगती है और ऐसे उदय और अस्त का चक्र प्राणियों में सदैव चला जाता है, यहाँतक कारण त्रिपुटी समझनी चाहिये-

प्राणों की सूक्ष्म त्रिपुटि और रजोगुणी अवस्था है और कारण और सूक्ष्म के योग से स्थूल त्रिपुटी अथवा पंच महाभूत प्रगट होते हैं-

शुक्राचार्य ने तर्क किया कि पंचमात्रा पंचज्ञानेंद्रिय और पंचकर्मेन्द्रिय के पृथकभाव कैसे प्रतीत होते हैं-

बृहस्पतीजी ने उत्तर दिया कि चैतन्य की कारण त्रिपुटी से जो प्रतिबिम्ब प्राणों के सर्वज्ञ रूपमें पड़ता है उस का नाम मात्रा है और वह चैतन्य के साक्षीभाव और उसके चार कारण स्वरूप के अनुसार पांच प्रकार की सिद्ध होती हैं और जैसे प्राण सर्व ब्रह्मांड में परिपूर्ण है वैसे ही मात्राएँ भी सर्व जगतमें व्यापक होरही हैं और उन का सात्विकस्वभाव है, जहां कहीं पंचब्रह्म का शब्द आया है वहां वह इसी अर्थ को बताता है-

चैतन्यकी सूक्ष्मत्रिपुटीसे देहधारी के प्राणमें छायापड़ने पर पंचज्ञानेंद्रिय उत्पन्नहोती हैं और वह रजोगुणी कहलाती हैं-

चैतन्य के पंचमहाभूतरूपकी छाया प्राणों में पड़ने से पंच कर्मेंद्रियकी उत्पत्ति होती है और वह तमोगुणी कहलाती हैं, इन सबका विस्तार इस प्रकार है-

अंतःकरण	मात्रा	ज्ञानेंद्रिय	कर्मेंद्रिय	महाभूत
	शब्द	श्रोत्र	पाद	आकाश
चित्त	स्पर्श	त्वचा	हस्त	पवन
अहंकार	रूप	चक्षु	वाणी	अग्नि
बुद्धि	रस	जिह्वा	उपस्थ	जल
मन	गंध	नासिका	गुदा	पृथिवी

४ अन्तःकरण, ५ मात्रा, ५ ज्ञानेंद्रिय, ५ कर्मेंद्रिय और ५ महाभूत यह २४ माया के अंश हैं और कहीं कहीं तीन गुणों को अधिक करके २७ अंश भी मानेगये हैं; चैतन्य साक्षी नित्य श्वेतपत्रवत असंग रहता है परन्तु उसकी छाया चौबीस अंशों के समूह में पड़ने से प्रमाद उत्पन्न होता है और देह-धारी अविद्या के बश होजाता है अर्थात वह पांचकोश तीन अवस्था और देह अभिमान में लिप्तहोकर अपने शुद्ध स्वरूप को भूलजाता है-

शुक्राचार्य बोले हे वृहस्पतिजी तुम्हारा कथन हमारी समझमें नहीं आता कृपाकरके हमें अपना आशय प्रत्यक्ष दिखाइये तो हम मानेंगे-

वृहस्पतीजीने कहा आप बड़े विद्वान हैं विचारिये कि सूक्ष्म आकृतियों का दर्शन नेत्रद्वारा कैसे होसक्ता है किन्तु आप दैत्यों के गुरु हैं और उनके संग नित्यरहते हैं इसकारण यदि आपके मनमें ऐसी इच्छा उत्पन्न हो तो असम्भव नहीं, अतएव मैं अपनी योगमाया से इस समय एक चरित्र दिखाताहूं आप सावधान होकर उसको प्रत्यक्ष देखिये-

इतना कहतेही सभाके सामने एक वृक्षोंका बड़ा बन प्रघट होगया और उसमें एक कुम्हार व्याकुल खड़ाहुआ और कुछ कहताहुवा दिखलाई दिया-

वृहस्पतीजी ने शुक्राचार्य से कहा पूछो यह क्या कहता है और शुक्राचार्यने कुम्हारसे प्रश्न किया कि तेरा क्या प्रयोजन है-

कुम्हार ने विनती की कि मेरा गधा इस बनमें खोगया है और मुझे नहीं मिलता कोई उसे ढूंढकर बतादेवे-

वृहस्पतीजीने शुक्राचार्य से कहा आपही कृपा करके उसके मनोर्थ को पूरा कर दीजिये, शुक्राचार्य दृष्टी जमाकर उसपशुको बनमें ढूंढने लगे और कहने लगे कि इस बन में वृक्षोंपर भांत भांत के पक्षी तो बैठे हैं परन्तु गधा कहीं नहीं दीखता यह कुम्हार योंहीं मिथ्या कह रहा है, वृहस्पतीजीने कहा और भली प्रकार से देखिये वह सच कहता है और गधा इसी बनमें है और जब वह एकबार आपका दृष्टिगोचर होगा तब आपकी आंखों के सामने से नहीं हटेगा, शुक्राचार्य ने दूसरी बार देख कर भी यही कहा कि हमें तो नहीं सूझता, वृहस्पतीजीने पूछा

कि गधा किस रंगका हुवा करताहै उन्होंने उत्तर दिया धवल रंग का होता है--

तब बृहस्पतीजी ने उनसे कहाकि आप इसी बुद्धि से जो कुम्हार के गधे का पता नहीं बतासक्ती दैत्योंको उपदेश करते हो कि विष्णु पूजन तीर्थ यात्रा और पुण्यदान न करने चाहियें और वह आपकी शिक्षानुसार ईर्षा निन्दा और विवाद के कर्म में नित्य लगे रहते हैं, अब आप एक क्षण बुद्धिको शान्तकरके इस बनकी चित्रमें शून्य स्थानपर जो धवल रंग का है दृष्टी लगाइये और फिर कहिये कि वह पशु सन्मुख खड़ा हुवा दीखता है वा नहीं--

शुक्रजी वहाँपर दृष्टी के लेजातेही बोल उठे अहो ! यहरहा कुम्हारके सन्मुख खड़ा है और गर्दभ के संपूर्ण अंग स्पष्ट दीख रहे हैं, मैंतो उसे वृक्षकी शाखाओं और पत्तों में जहां बहुत से पक्षी बैठे हैं ढूंडताथा और कुम्हार को झूटा बताताथा, यह देख कर सब महाशय हंसपड़े और बृहस्पतीजीने कहा--अव्यवसायी बुद्धि और व्यवसायात्मिका बुद्धिकी इतनीही परीक्षा है, अब इस चरित्र के लक्षार्थ को सुनिये कि यह बन मायाकृतहै और इसके वृक्ष पंचमहाभूत हैं, पक्षी आदिक ज्ञानेंद्रिय और कर्मेंद्रिय को जताते हैं और इसमें मनरूपी कुम्हार कालके चाकपर संकल्प मय भांडे नित्य घड़ाकरता है, जिस समय अविद्या का बादल उठकर बनमें अंधेरा करदेता है तब निश्चयात्मक सूर्य का दर्शन दुर्लभ होजाता है किन्तु श्रद्धा भक्ति और उपासना की किरणें उसे बादल को फाड़देती हैं तब वह ज्ञान रवि बादल

की ओट से निकलकर अपने तेज से अंधकार का नाश और सारे बनका प्रकाश कर देता है, अव्यवसायी पुरुषोंकी बुद्धि वहिर्मुख फैलकर रूपको देखती है और नित्य ऐसा संसकार होने से पंचभूतमात्र को सत्य मानना उसका स्वभाव होजाता है यही कारण है कि देहधारी की चक्षुइन्द्रिय वृक्ष और पक्षी के रंगोंकी ओर जाती है किन्तु उस शून्य में नहीं ठहरती जहां अहंकाररूपी पशु और मनरूपी कुम्हार दोनों खड़े हैं-

व्यवसायियों की बुद्धि भेद कल्पना से रहित होके श्वेत पत्र के अशून्य भावको निश्चय करती है और एक ब्रह्म को सर्वत्र अपरोक्ष देखती है--

मनोवैगगनाकारं मनोवैसर्वतोमुखम्।
मनोऽतीत मनःसर्वं नमनः परमार्थतः॥

॥ विष्णुमूर्ति ॥

इस समय विष्णुभगवान ने अपने मुखारविंद से पूर्वोक्त मूर्तियों के लक्षार्थपर यों व्याख्यान आरम्भ किया कि पहली चित्र मेरे विराटरूप अथवा ब्रह्माण्ड को दर्साती है जिसका ज्ञान ब्रह्मविद्या कहलाता है, दूसरीचित्र जीवात्मा अथवा पिण्ड का बोध कराती है जिसका यथावत प्राप्तहोना अध्यात्म विद्या है; तीसरा चित्र अर्कोंकी विधी और निषेध की युक्तिसे उन दोनों विद्याओंकी एकता करके चैतन्यको साक्षी और असंग दिखाता है और इन तीनों चित्रोंसे सतशब्द का ज्ञानस्वरूप अर्थ खुलताहै-

चौथी और पाँचवीं चित्रोंसे मेरे हिरण्यगर्भ रूपका सर्वज्ञ और अल्पज्ञभाव प्रतीत होता है जिसका अनुभव करना तत्-शब्द का ज्ञाता रूपहै....

छटी चित्र गायत्रीमंत्र के अभ्यास से पिंड और ब्रह्माण्ड का संयोग बताती है और ओंकार शब्दका ज्ञेयरूप दिखाती है

सातवींचित्र में प्राणों की साधना है जिसके प्रताप से ऊपर कहेहुवे वर्णन का निश्चय जिज्ञासु को होसक्ता है....

आठसे चौदहतक सात चित्रों में सप्त देवताओंने जो मेरे अंग हैं अपनी अपनी आकृतियां प्रगट की हैं जिनके विचारने से मनुष्य को तत्वज्ञान प्राप्त होता है।

पन्द्रहवें और सोलहवें चित्रों में युगोंकी व्यवस्था और अन्तःकरण और इन्द्रियों की अवस्था दिखाईगई है जिनका विचार न करके अभिमानी जीव श्रद्धा भक्ति और उपासना से विमुख होजाते

हैं और अधर्म को धर्म मानकर उसीमें प्रवृत्त होतेहैं:-

अश्रद्धधानापुरुषाः धर्मस्यास्यपरंतप।
अप्राप्यमाम्निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥

हे सर्व महाशय! आप मेरी इस मूर्तिको श्रद्धापूर्वक विचारिये जिसमें सर्वजगत् अंकुररूप से समायाहुआ है और जो उसकी उत्पत्ति स्थिति और लयका अधिष्ठान है और ऋग्वेद के पुरुषसूक्त ने जिस अनादि पुरुषका वर्णन किया है उसका यही स्वरूप है, ज्ञाननिष्ठ देहधारी तो उस सूक्त को समझकर संशयसे निवृत्त होजातेहैं और अपनी आत्मा में मेरे विराटरूप का दर्शन करलेते हैं परन्तु जिनके हृदय में प्रेमका अंश बढ़ाहुवा है उनके परंलाभ के लिये मेरी इस रूपकमय मूर्ति की भक्ति और उपासना से उत्तम कोई उपाय नहीं होसक्ता, प्रपंच में मनुष्य की अधिक प्रवृत्ति होजानेपर जब उसका मन अधोगतिको प्राप्त होता है बुद्धि को अपने आधीन करलेता है और नित्य चलायमान रहता है तब उसके एकाग्र करने के निमित्त वैराग्य और अभ्यास का साधन अवश्य चाहिये इसी हेतुसे स्मृतिने मेरी वेदोक्त मूर्तिको जो शुष्कतरुके समान थी अलंकारमयीपत्र से शोभित किया है और भक्तिमान सज्जनों को संसार के दुखरूपी तपनसे बचने के लिये उसकी शीतल छाया में निवास करने की आज्ञादी है, मेरे निराकार और अचिन्त्य स्वरूप में वृत्तिका ठहरना अतिकठिन है और उत्तम जिज्ञासुको चाहता है किन्तु साकार और सगुण मूर्तिका ध्यान करना मनुष्यों को सुगम और सामान्य रीति से मुक्तिदायक है और ऐसी मूर्ति

जिसमें सर्व आकृति एकत्रहों इसके अनन्तर और कोई नहीं है-

हेमहर्षिगण और सज्जन ! अब आप प्रथम चित्रको स्मरण कीजिये और उसके मण्डलों के साथ साथ इसमूर्ति के अंगों को विचारिये ऐसा करने से आपको दोनों चित्रोंकी अनुरूपता सिद्धहोगा अर्थात एक लक्षका दो युक्तियों से दर्साना निश्चय होजावेगा।

विराट मूर्तिका जो प्रथम अधिष्ठान श्वेतपत्र है वह इस मूर्तिका क्षीरससुद्र है- उसके दूसरे अथवा चैतन्य मण्डल के अनुसार इस मूर्ति में मेरा चतुर्भुजीरूप है-उसके तीसरे अथवा अहंकार मण्डल के सदृश इस मूर्तिमें शेषनागकी शय्याहै-- और उसके चौथे अथवा बुद्धि मंडल के अनुकूल इस चित्र में लक्ष्मी का स्वरूप है और यह चारों मेरा निजरूप और सात्विक भाव रखते हैं इनसे चार शक्तियाँ उत्पन्न होकर ब्रह्माजी के रूप को प्रतिबिम्ब के समान प्रगटकरती हैं और राजसी कहलाती हैं और वह विराटमूर्ति के पांचवें मनके चक्रके तुल्य हैं, सात्विकी और राजसी विभूतियों के परस्पर मिश्रित होनेपर पंच महाभूत का प्रादुर्भाव होता है जो रुद्रकी साक्षात मूर्ति हैं और तामसी कहलाते हैं और वह विराट मूर्ति के इतर पंचचक्र के अनुसारहैं

मेरे विराटरूपी देहमें जैसे अन्तरिक्ष और वायु अवस्थित हैं वैसेही मानुषी देह में नाभि और प्राणहैं और जैसे उसमूर्ति के सम्बन्ध में अन्तःकरण चतुष्टय का वर्णन हुवा है वैसेही इस चित्रमें चतुर्वर्गी कमल की उत्पत्ति है--

इस स्वप्न ध्यानकी मूर्तिमें जो आप नाभी से कमल नाल

का निकलना और उससे ब्रह्मा और रुद्रका उत्पन्न होना देख-रहे हैं समझाने के लिये हैं वास्तव में यह सर्व आकार देहके अन्तर अध्यात्मविद्या द्वारा सिद्ध होते हैं-

हृदय के मध्य समान वायुका देश है जिसकी आकर्षण शक्ति द्वारा नाभिस्थान से प्राणरूपी नाल उत्पन्न होकर शिर-रूपी कमल तक पहुंचती है और वहाँ व्यान पवन उस कमल को पुष्ट करके नासिकाद्वार पर उदान शक्तिसे उदय करदेती है जब एक श्वासाकी इतनी क्रिया होचुकी है तब अपान शक्ति अपने गुदास्थान से उस श्वास को अन्दर खेंचकर अस्तकर-देतीहै इस प्रकार प्राण और अपान जो मुख्य हैं अपनी शक्ति से सर्व देहधारियों के अन्तर श्वासका चक्र बांधदेते हैं जो मृत्यु पर्यंत चलाजाता है-

ईश्वरःसर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुनतिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानिमायया॥

मेरा स्थान हृद्देश में है और ब्रह्माजी नाभिमें और शिवजी त्रिकुटी में निवास करते हैं, इस विधिसे प्रत्येक देहमें तीनों गुणोंका सम्बन्ध होताहै प्राणशक्ति अंन्तःकरण रूपी ब्रह्माको प्रगट करती है और व्यान और उदान शक्तियों के संयोग होनेपर पंच महाभूतरूपी रुद्रकी उत्पत्ति होती है जिसकी मूर्ति को अपानशक्ति फिर मेरे समानरूपी अधिष्ठान में लयकरदेती है, ब्रह्माजीके चतुर्मुखी शिरपर सप्तव्याहृतियोंका मुकुट और रुद्रके पंचमुखी शीषपर अष्टधा प्रकृतियों का मुकुट है-

नवलक्षणलक्षितः दशमंमामकंधामः॥

मेरा भजन संसार में तीन प्रकार से होताहै, भक्तजनतो मेरे वासुदेव शब्द अथवा रामनाम का उच्चारण करते हैं और योगाभ्यासी मेरे ओंकार शब्द को श्वासा में जपते हैं और ज्ञानी पुरुष सोहं शब्दको प्राणों की क्रियासे स्वतः उत्पन्न होते हुवे पहचानकर उसके द्रष्टा बने रहते हैं–

येयथामांप्रपद्यन्तेतांस्तथैवभजाम्यहम् ।
ममवर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याःपार्थसर्वशः ॥

मेरी इस मूर्तिपर मनका लगाना और उसके गुणानुवाद को श्रद्धापूर्वक श्रवण करना सालोक मुक्तिका दायक है–

बुद्धिसे इस चित्रका विचारपूर्वक मननकरना सामीप्य मुक्ति का हेतुहै चित्तवृत्ति में इस मूर्तिकी धारणा और निदिध्यासन करना सारूप्यमुक्ति का लक्ष है–

अहंभाव को इसमूर्ति के ध्यानमें लीन करदेने से मेरा साक्षात् दर्शन मिलता है और वह सायुज्यमुक्ति के नामसे जगत में प्रसिद्ध है यहाँतक मेरा व्याख्यान अपनी स्वप्नध्यान मूर्तिके विषयमें हुवा है और अब मैं सर्व सभाको अपने वैकुंठ ध्यानमूर्ति का अभिप्राय यों संक्षेप से सुनाताहुं कि उसमें इस चतुर्भुजी मूर्ति का जो शेषनाग पर शयन करतीहुई आप देखरहे हैं हृदय के सिंहासनपर राजा की उपमा देकर और सर्वेंद्रिय और महाभूतको उसकी प्रजा और अन्तःकरणको मन्त्री और प्राण और अपान की जय विजय नामी द्वारपाल सिद्ध करके प्रतिष्ठा कीगई है–

यह आस्तिकधर्म जो मैंने आपको सुनाया कृत्रिम नहीं

है किन्तु परम्परा से ब्रह्माकृतियों के अनुसार चलाआया है और समय समय में मेरे अवतारों का प्रादुर्भाव होतारहा है--

प्रथम मीनावतार है जिसने वेदोंके गुप्तकरदेने के अपराधपर संहासुरदैत्य को नाशकरके वेदोंको प्रगटकिया और पुराणों ने संसारियों के बोध के निमित्त इस आशय का अलंकारमय वर्णनकिया उसके लक्ष्यार्थ को अध्यात्ममें विचारने से बुद्धिमान समझलेंगे कि जीवका ब्रह्ममें इसप्रकार निवास है जैसे मीनका समुद्र में होता है और जीवन और मरण का संशय जो जीवके अविनाशी और अखण्ड होने के वेदोक्त सिद्धान्त को गुप्तकरके अनात्म निश्चय की प्रवृत्तिकरता है संहासुरदैत्य है, जब देहधारी के अज्ञान को पराविद्याका अवतार नष्टकरता है तब आत्मज्ञान होने से वेदमूर्ति प्रगट होजाती है इस अवतार का प्रयोजन मनुष्यकी श्रेष्ठता दिखलाना है और मनुष्यों में ज्ञानकी विशेषता बतानाहै--

दूसरा कूर्मावतार है जिसने अपनी पीठपर मंदराचल पर्वत को उठाया है और वासुकी नागकी रस्सी से दैत्य और देवताओंने मिलकर समुद्रको मथा है और चौदहरत्न निकाले हैं--पुराणों के रूपकमय वर्णन को छोड़कर सारांश को निकालिये तब आपको सिद्ध होगा कि देहकी उपमा कछुवेसे दीगई है और रीड़कीहड्डी मंदराचल है, प्राणकी रस्सी वासुकी सर्प है, आसुरी संपद दैत्यगण और देवीसंपद देवताओं की पंक्ति है, संसार समुद्र के तुल्य है जिसमें प्राणों के मथने से चार अन्तःकरण पांच ज्ञानेंद्रिय और पांच कर्मेंद्रिय चौदहरत्न के

समान निकलते हैं—यह अवतार कर्म और पुरुषार्थकी महिमा को जताता है।

तीसरा अवतार वराहनामी है जिसने पाताल में पृथिवी लेजाने के कारण हिरण्याक्ष दैत्यको मारकर पृथिवीको जल से बाहर निकाला, हे महापुरुषों! आपको विदितहो कि एक समय वरुण शक्ति के अधिक होजाने से समुद्र के जलने पृथिवी को डुबादिया और सर्वत्र जल थल करदियाथा तब मरुतके वेगने जो अति बलवान है जलको समुद्रमें लौटाकर पृथिवी को उभार लिया और जलमें से निकलने पर पृथिवी का रूप ऐसा दीखने लगा जैसा कीचसे निकले हुवे वराह का हुआ करता है, पुराणों के इतिहास में वह उत्पात हिरण्याक्ष दैत्य कहागया है और वह पवन शक्ति जिसने पृथिवी का उद्धार किया वराहमूर्ति मानी गई है, जलप्रलय से पृथिवी के निकल आने पर पशु पक्षी और मनुष्यादिक सृष्टि फिर अपने अपने व्यवहारमें प्रवृत्त हुई इसी हेतु से वर्तमान काल वराहकल्प कहलाता है और यह वराह अवतार बल के ऐश्वर्य को प्रतीत कराता है—

चौथा नृसिंहअवतार है जिसने स्थम्भसे निकलकर हिरणकश्यप दैत्यका उदर अपने नखसे फाड़डाला और उसके पुत्र प्रह्लाद को जो मेरा भक्तथा अपनी शरणमें लिया, आत्म निष्ठ पुरुषों! एकक्षण अपनी आन्तर्यदृष्टी कीजिये तो आप को निश्चय होगा कि हिरण्यकश्यप अहंकार की मूर्तिहै और प्रह्लाद भक्तिका स्वरूप है, स्तम्भका अभिप्राय प्राण है जिस

पर भक्तजन की दृष्टी ठहरतेही सिंहरूपी ज्ञान नरदेह से निकलकर गर्दभरूपी अहंकार का नाश करदेता है और यह अवतार भक्ति का महात्म दर्साता है ऊपर कहे हुवे चारों अनुभवी अवतार सत्युगमें मानेजाते हैं कि उस अवस्था की बुद्धि अलंकार के अर्थ को तत्काल अध्यात्म में सिद्ध करलेती है-

पांचवां वामन अवतार है जिसने राजा बल से तीन चरण पृथिवी के दानका संकल्प कराके एक चरण में सारी पृथिवी और दूसरे चरणमें आकाश नाप लिया और तीसरे चरण के अन्तर उसके देहको लेलिया-हे महाशयों ! इस अवतार का अनोखा चरित्र जानिये कि राजाबल देहाभिमान की मूर्ति और वामन अवतार चैतन्य का अंश है, अभिमानी की दृष्टी पृथिवी से आकाशतक जाती है और वह अपने देह के सम्बन्ध से उन दोनों को सत्य मानता है किन्तु चेतन अंश स्थूल और सूक्ष्म दोनों अहंकारों को श्रद्धा और भक्ति के दोचरणों में समाप्त करके कारण अहंकार को उपासना के तीसरे चरण से हरलेता है यह अवतार उपासना की मनोहर और छलनेवाली युक्ति से अभिमानी जीवका उद्धार समझाता है—

छटे हरिअवतार का यह वृत्तान्त है कि जब ग्राहने गज का पाँव सरोवरमें पकड़लिया और वह अपने बलसे उसको न छुटासके तब उसने घबराकर हरिशब्द की चिंघाड़मारी और ततकाल मैंने प्रगट होकर ग्राहके फंदसे उसको छुटालिया और उसके कुटुम्बकी रक्षाकी हास्तिका प्रयोजन गृहस्थी पुरुष और ग्राहका तात्पर्य काम क्रोध लोभ मोहादिक का दुखरूप संघात

है और सरोवर यह संसार है जिसमें मेरे हरिनाम के भजन से गृहस्थियों के सर्वदुख हरेजाते हैं, यह अवतार नामकी महिमा को प्रसिद्ध करताहै—

सातवाँ श्रीरामचन्द्र का अष्टकलावाला अवतार है जो मनुष्यदेह में प्रगटहुवा और अपने धार्मिक चरित्रों से मर्य्यादा पुरुषोत्तम कहलाया इसका गुणानुवाद वाल्मीकी और तुलसी-कृत रामायण में गायागया है परन्तु अध्यात्म रामायण उस अवतार के ईश्वरभाव को स्पष्ट करके दिखलाती है और शाश्वत धर्मकी रक्षा और मर्यादा के पालन से व्यवहार और परमार्थ दोनों की सिद्धि बताती है—ऊपर वर्णन किये हुये तीन अवतार त्रेता सम्बन्धी हैं—

आठवाँ श्रीकृष्णका रसिक अवतार सोलहकला सम्पन्न कहलाता है जिसको मूढलोग तो मानुषीदेह में आश्रित मानते हैं परन्तु ज्ञानदृष्टिवाले ध्यान में मनको अवस्थित करके मेरे इस अवतार के परंभाव को पहचानते हैं और मेरे योगेश्वर स्वरूपको अपनी आत्मा में देखते हैं, यह अवतार अपनी अद्भुत लीलासे सर्व जगतको एक अंश में समायाहुवा सिद्ध करता है और प्रवृत्ति निवृति दोनों पक्षों का मध्यस्थ रहकर असंग अवस्था का विलक्षण स्वरूप दर्साता है और उसके साधन में समतायोग का अतिउत्तम उपदेश करता है—

नवाँ बुद्धावतार है जो कलियुग के आदि में मनुष्यरूप धारण करके यह समझाता है कि जिस समय मनुष्यों की संसार में अत्यन्त प्रवृत्ति होजावे तो आचारधर्म से विचारधर्म को

विशेष जानना उचित है कि खानपान और जातिभेद से देशकी व्यवहारिक उन्नति निर्बल रहती है और वह परमार्थ की सिद्धीको भी कठिन करदेती है इसीकारण बुद्धावतार की जगन्नाथ रूपी मूर्तिके मन्दिर में जिसकी समुद्र के तटपर प्रतिष्ठा कीगई है सब जातियों के आचार की एकता है-

दसवाँ निष्कलङ्कावतार कलियुग के अन्त में प्रगट होगा जो उस समय के प्रभाव से उत्पन्नहुवे अधर्म को नाश करके फिर धर्ममर्यादा को स्थापित करेगा तब इस वराहकल्प का अन्त और दूसरे कल्प का आरम्भ होगा।

इन अवतारों के अनन्तर परशुराम, अवधूत दत्तात्रेय, वेदव्यासादि चौदह अवतार मेरे मानेजाते हैं और वास्तवको विचारो तो अवतारों की गिनती नहीं होसक्ती कि सर्वजगत मेरी मूर्ति है।

अजोऽपिसन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोपिसन्।
प्रकृतिंस्वामवष्टभ्य संभावाम्यात्ममायया॥

अवतारों के द्वारा जगतमें ईश्वरका विश्वास और परमार्थ का निश्चय हुवा है और अनेक देशों में अवतार प्रगट हुवे हैं जिनके दिव्य चारित्र और धर्मोपदेश ने मनुष्यों का अधोगतिसे उद्धार किया है और जिन आरण्यक स्थानों में ऐसाज्ञान मनुष्यों के श्रवण में नहीं आया है वहाँ शिष्टाचार और पुरुषार्थ विना मनुष्यों की पशु संज्ञा है-

मेरी माया शक्ति सर्वत्र व्यापक होके उत्पत्ति और प्रलय कराती है किन्तु इस समय मैं आपसे प्रलय का वर्णन करताहूं

जिसके तीनरूप हैं-नित्य, निमित्त और महान्, कालचक्र चलता हुआ वर्तमान को भूत समय के कोश में डालताजाता है और इस प्रकार प्राणियों के प्रत्येक श्वासा संकल्प और क्रियाका प्रतिक्षण लय होता रहता है इसी का नाम नित्य प्रलय है-

किसी एक आकार, वस्तु, नगर वा देशका अभाव जो ईश्वरशक्ति द्वारा होता है निमित्त प्रलय कहलाता है-

महाप्रलय ब्रह्मज्ञान से होती है अर्थात् आत्मज्ञानकी प्राप्ति से संसार का अभाव होजाता है और एक अद्वितीय ब्रह्म शेष रहता है।

यतंतोयोगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतंतोप्यकृतात्मानो नैनंपश्यन्त्यचेतसः॥

॥ गुरुमहिमा ॥

श्रीविष्णुभगवान का व्याख्यान समाप्त होनेपर एक विनोदनी मूर्ति जिसका सारादेह मनुष्यका था और ललाटपर हाथी की सूंडसी दिखाई देतीथी सभामें प्रगट हुई और उसने कहा कि मैं पार्वती का पुत्रहूं और महात्माओंके समागम में अपनी बीती सुनाने आया हूं, एक समय माता पार्वती ने अपनी उप्टनसे मेरे देहका पुतला बनाकर मुझे ग्रह द्वारपर स्थापित कियाथा और आज्ञा दीथी कि किसी पुरुष को अन्तःपुरमें न आनेदो, मैं उनकी आज्ञानुसार द्वार चौकीपर बैठगया कि इतने में शिवजी महाराज वहां आये और अन्दर जाने लगे, मैं उनको नहीं जानता था इस कारण मैंने उन्हें अन्दर जाने से रोका इस पर उन्होंने मेरा शिर काट डाला मैं बेसुध होगया और वह अन्दर चले गये तब मेरी माता ने जो स्नान कररही थीं उनसे प्रश्न किया कि मैंने तो द्वारपाल बिठा रखा था आप अन्दर कैसे चले आए, शिवजी ने कहा मैंने उसका शिर काट डाला, तब माताने अति दुखित होकर उनसे याचना की कि मेरे पुत्रको जीता करदो यह सुनकर शिवजी ने अपने गणों को आदेश किया कि जो मूर्ति सब से प्रथम मिले उसका शिर काटलाओ, गणों को प्रथम मूर्ति हाथी की मिली और वह उसका शिरकाटकर शिवजी के सन्मुख ले आए तब शिवजीने वह शिर मेरे धड़पर लगा दिया और मुझे चिरंजीव करके यह वर दिया कि जगत में तेरा श्रद्धामय पूजन प्रथम करने से सर्व कार्य निर्विघ्न होंगे उस काल से विद्यारंभ विवाह प्रवेशादि शुभ

कर्म के समय मेरा पूजन प्रथम हुवाकरता है, यह वाच्यार्थ तो सामान्य बुद्धिवालों के हितकारी हैं किन्तु विवेकवानों की इस सभा को मैं अब लक्षार्थ सुनाताहूं माता पार्वती प्रकृति का रूप और पिता महेश पुरुषका स्वरूपहै पंचमहाभूत प्रकृतिका उप्तन हैं जिनसे देह बनती है और अहंकार उसका द्वारपाल है जो प्रकृति का दूत होके ज्ञानस्वरूप शिवको नहीं पहचानता और उसके निश्चय का प्रवेश अन्तःकरण में नहीं होने देता परन्तु ज्ञानमय शिवका तेज तमरूपी अहंकार पर पड़तेही उसको भस्म कर देता है और उसकी सारी विभूति जड़वत रहजाती है, संसार में मनुष्य देहका जन्म माता की इच्छा से होता है और ज्ञान जन्म का संभव गुरूकी कृपा से है जिसके ॐकारमन्त्र का वज्र अज्ञानरूपी अभिमान को काटकर शिष्यके ललाटस्थान में अर्धमात्राका अनुभव कराता है अर्थात जड़ संज्ञामें चैतन्यताका प्रवेश ज्ञान साधनसे होता है, जैसे क्षररूप देह धारियों में हाथी सबसे बड़ा है वैसे ही अक्षरोंमें ॐकार सबसे बड़ा है और वह महावाक्यों से प्रथम आता है; इस एकाक्षर मंत्रकी धारणा से मनुष्य चिरंजीव होजाताहै और सर्वेंद्रिय और अन्तःकरणरूपी शिष्यगण का ईश बनजाता है–

यह सूंड जो आप मेरे मुखपर देखते हैं वास्तव में ॐकार की उल्टी हुवी मूर्ति है जो नासाग्र का अभ्यास करनेपर जिज्ञासु के अनुभव में आन्तर्य दृष्टि से आती है और इस चित्रके पत्र की दूसरी ओर से मूर्तिको उल्टाकरके देखोतो वाह्यदृष्टि से भी प्रत्यक्ष दीखता है श्वेतवर्ण का एक दन्त मेरे अद्वैतपद को

दिखाता है और मूर्ति के उलट जाने के कारण ओंकार के चार पाद मेरी चतुर्भुजा बनजाते हैं, ओंकाररूपी हाथी के भय से देहका अहंकार मूषकी भांति दबक्कर मेरा वाहन होगया है और मेरी ओंकारमय मूर्ति में भवानी, गणेश, ब्रह्मा, विष्णु और महेश पाँचों देवताओं के आकार प्रतीत होते हैं उपनिषदादिक ने जो ऊपर मूल और नीचे शाखावाले सनातन वृक्षका वर्णन किया है उसका चित्र स्मृतिने मेरी मूर्ति में खेंचा है अर्थात् जैसे श्रुतिने ओंशब्द का प्रथम उच्चारण सिद्ध किया है वैसेही स्मृति ने उस आशय का मूर्तिपूजन प्रथम बताया है—

नासाग्र धारणा के प्रताप से जैसेशिष्य गुरुभाव को प्राप्त होता है उसकी युक्ति मैं अब सुनाताहूं, प्रथम जिज्ञासु सुखासन से सीधा और स्थिर बैठकर प्राणशोधन के निमित्त गायत्री का जप श्वासाद्वारा करे जिसकी यह रीति है कि बाईंनथने से श्वासा धीरे धीरे अन्दरकी ओर सप्त व्याहृतियों का ध्यान करतेहुवे चढ़ावे और यह पूरक कहलातीहै, इसके उपरान्त ललाटस्थान में अर्थात् दोनोंभवोंके मध्य जहां दोनों नथनों का संगम है श्वास को ठहराकर उसीमन्त्र का जप ध्यानसहित करे यह कुंभ का स्वरूप है, अन्त में दाईं नथनें से श्वास को धीरे धीरे मन्त्र की पूर्वोक्त विधिसहित बाहर निकाले जिसको रेचक समझना चाहिये, इस धारणा का अभ्यास प्रथम सप्तवार करना उचित है फिर जिज्ञासु उसको यथाशक्ति बढ़ा सक्ता है और ऐसा करते करते प्राण शुद्ध और ध्यान के योग्य होजाता है—तब अभ्यासीपुरुष मन्त्र जप

को छोड़कर दोनों नेत्रों से नासिका के अग्रभागपर दृष्टि ठहरावे और ऐसा करते हुवे नेत्रों को किंचित् खुलारखे और चेतन रहकर वहांपर ओंकार के तेजमय स्वरूप का ध्यान करे तब इस अभ्यास का आनन्द अभ्यासीपुरुष को स्वतः अनुभव होता है और वह कथन में नहीं आता-ओंकार की अनंत महिमा है और वही जगत का सदगुरु है

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरुसाक्षात्महेश्वरः ।
गुरुरेवजगतसर्वं तस्मैश्रीगुरवेनमः ॥
अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तंयेनचराचरम् ।
तत्पदंदर्शितंयेन तस्मैश्रीगुरुवेनमः ॥

॥ शक्ति प्रकरण ॥

जब गणेशजी अपना सुन्दर वृत्तान्त सुनाकर प्राणाभ्यास में मग्न होगये तो एक अष्टभुजावाली स्त्री दिव्यमालाम्बर को धारणकिये और सिंहकी पीठपर बैठीहुई सभामण्डप के द्वारसे अन्दर विराजमान हुई और सर्व महापुरुषों को सावधान कराके यह वचन कहनेलगी कि मेरा नाम शक्ति है और मेरे प्रभाव से जगत की सर्व क्रिया सिद्ध होती हैं ब्रह्मा, विष्णु और शिव तीनों देवताओं का कार्यरूप है और मेरा कारण स्वरूप-यदि ब्रह्मा में विद्याशक्ति न होवे तो उससे जगत की उत्पत्ति कैसे होसके और जो शिवशब्द के अन्तर इ की स्वरशक्ति न हो तो श और व दोनों अक्षर मिलकर शवमात्र रहजावेंगे मेरी अष्टभुजा हैं जो किसी और देवताको प्राप्त नहीं और वह आठ दिशाओं में पहुंचकर ब्रह्माण्ड को चक्रवत फिराती हैं और अष्टधा कहलाती हैं जिनके पृथक पृथक नाम संसारमें प्रसिद्धहैं, पृथिवी में शारिका, जलमें राज्ञा, अग्निमें ज्वाला, पवनमें चंडी आकाश में कालिका, मनमें भवानी, बुद्धि में सरस्वती, और अहंकार में सावित्री का निवास है और यह आठों अष्ठसिद्धि की देनेवाली मेरी नवीं मूर्ति के आधीन हैं जो उमानामी होके देहके नवद्वार से नवनिद्धि की दायक है मेरा वाहन सिंह है जो बड़ा शूरवीर मानाजाता है—मेरीही शक्ति से श्रीरामचन्द्र का अवतार अष्टकला कहलाया है और श्रीकृष्णावतार मेरी प्रवृति और निवृति के संयोगसे सोलहकला संपन्न हुआ है,

ब्रह्मज्ञानी मेरी विचारशक्ति से ब्रह्मपद का कथनकरते हैं और अहंग्रह के उपासक मेरी उपासना शक्ति से अहं ब्रह्मास्मिशब्द का उच्चारण करते हैं--जब प्राणियों पर विपत् और संकट की भीड़पड़ती है और वह मेरी प्रार्थना करते हैं तब मैं अपने वाहन पर चढ़कर उनके दुखों को निवारण करने के लिये तत्काल पहुंचतीहूं और उनकी सहायता करतीहूं, सारांश यह कि मेराही डण्का सारे जगत में बजरहा है--

शिवजी बोले हे उमा तुम मुझे यथावत नहीं जानती इसीहेतु से ऐसी अभिमान की वार्ता करतीहो और मैं तुम्हारी अवस्था को भलीप्रकार जानतीहूं, मेरे मंगलरूपी भवन के बाहें अंग में तुम्हारा ज्योतिरूप से निवास है और मेरी अर्धांगनी होने के कारण तुम्हारी ऐसी महिमा है कि तुम मेरे आनन्दमय छत्रकी छाया में धैर्य के सिंहासन पर विराजमानहो और अनहद शब्द के घंटे श्वास की डोरी में बन्धे हुवे दिनरात तुम्हारे सन्मुख बजाकरते हैं और तुम चौरासी घंटेवाली कहलातीहो, मेरे आनन्द के तेज से तुम्हारी सब शक्तियां प्रकाशवान हैं और तुमने जो अपनी इ की स्वरशक्ति वर्णन की है और शव को व्यञ्जनोंका समूह मानकर जड़वत् कहा है, उसके अर्थ तुमनहीं समझीहो अब मैं समझाताहूं कि तुम्हारी इ शक्ति उपाधि का कारण है और उसमें सुख दुखादि द्वन्दका अध्यास सदा बनारहता है जो आनन्द का लक्ष नहीं कहाजासक्ता, मेरा शवस्वरूप परमानन्द का लक्ष है और वहाँ द्वन्द का लेश नहीं मेरे इस कथनके अर्थ

को तुम गूढ़विचार से समझ सकोगी और अब मैंहां तुम्हारी महिमा कहेदेताहूं—

तुम्हारा मुझ से अनादि संबन्ध है और तुम मेरे शिव-नाम के मध्यमें इस रूपसे बसतीहो, जब मैं आनन्द का स्मरण करताहूं तो तुम शक्ति का रूप धारण करके समीप रहतीहो और मेरे पुरुष रूप के साथ प्रकृति बनजातीहो, ब्रह्म में तुम्हारा विद्या का लक्ष होजाता है, विष्णुभगवान् के साथ तुम लक्ष्मी बनकर उनके चरणों की सेवा करतीहो और ब्रह्माजी के अवतार में तुम गायत्रीकी मूर्ति बनकर यज्ञो-पवीत के उत्तम संस्कार को प्रसिद्ध करतीहो, रामचन्द्र अवतार की समय तुमने सीताबनकर पतिव्रता धर्मका ऐसा पालन किया कि जगत में तुम्हारा नाम रामनाम से पहिले बोला जाता है, कृष्णावतार में तुम्हारी अद्भुतलीला हैं जहां तुमने राधाकी मूर्तिबनकर और असंग रहकर अपने अनादि भक्ति और प्रेमसे उस परंपुरुष योगेश्वर को वश करलिया और ऐसा परमानन्द लूटा जिसकापता संसारियों को नहीं मिलता कि वह तो तुम्हारे चरित्रोंकी कथा सुनकर देहानंदका अभिप्राय लेते हैं, यदि उनचरित्रों के अर्थपर ज्ञानदृष्टी डालीजावे तो उनके प्रत्येक भाव में भक्ति, उपासना, वैराग्य, योग, और ध्यानमें से किसी एक का आशय स्पष्ट दिखलाई देता है--

तुम्हारी इस परंपरा की भक्ति देखकर जैसे गृहस्थी लोग पतिव्रता स्त्रियों को अपने गृहके सबकार्य सौंपदेते हैं मैंने चौबीस कोशवाले मायागृह के सबकाम तुम्हारे आधीन कर

दिये हैं जिनके अल्पज्ञ और पृथकभाव हैं किन्तु मेरा आनन्द सर्वज्ञ और अखण्डहै--तुमयह भलीप्रकार विचारलोकि तुम्हारे कार्य जाग्रत और स्वप्नकी अवस्थाओं में बनते हैं सुषुप्ति में तुम से कोई क्रिया सिद्ध नहींहोती, जो तुम यह कहो कि मैं अविद्या का रूपधरके इस अवस्था में सोतीहूं और जाग्रत और स्वप्न में जागतीहूं तो मैं पूछताहूं कि तुर्य अवस्थामें मेरे समाधिस्थ होनेपर तुम्हारा कहाँ स्थान होताहै, शक्तिने मौन धारण करलिया, तब शिवजीने कहा देवि ! मेरी इस केवल अवस्थामें मेरे आनन्दके अनन्तर कुछ नहीं है और उसीमें तुम्हारे रूपका लय है; जहाँ शेष शब्द का कहना भी नहीं बनता इस कारण मुझे अनादि अनन्त और तुम्हें अनादि सांत कहते हैं-

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्य नादीउभावपि ।
विकारंश्च गुणांश्चैव विद्धिप्रकृतिसंभवान ॥

॥ सिद्धाश्रम ॥

शक्ति के शिव में लीन होजाने पर दो स्त्रियां परस्पर सम्बाद करती हुई सभामें आईं जिनमें से एक तो सन्यास का भेष और दूसरी गृहस्थ का बाना धारण किये हुये थी—

पहली स्त्री बोली कि मैंने सन्यास में श्रद्धा करके यह भेष निवृत्ति के निमित्त धारण किया है और अपना नाम श्रद्धा रखा है, दूसरी ने कहा कि मैंने योग में प्रवृत्त होनेसे शान्ति पाई है और मेरा नाम भी शान्ति है--

श्रद्धा बोली कि यह शान्ति मुझसे प्रगट हुई है और मैं उससे बड़ीहूं, शान्ति ने कहा मेरे घर से इस श्रद्धा की उत्पत्ति है यह अपने आप को मुझसे अधिक कैसे समझती है, हे महापुरुषों ! आप निर्णय करदीजिये कि यथार्थ क्या है—महर्षियोंने उत्तरदिया कि प्रथम तुम दोनों अपने अपने पक्षों को वर्णन करो तब हम अपना निर्णय सुनावेंगे श्रद्धा ने कहा जब मैं अन्तःकरण में निवृत्ति का प्रवेश करती हूं तब शान्ति उत्पन्न होती है--

श्रद्धावाँल्लभतेज्ञानं तत्परःसंयतेंद्रियः ।
ज्ञानंलब्ध्वापरांशान्ति मचिरेणाधिगच्छति ॥

शान्तिने तर्ककिया कि अन्तःकरण में निवृत्ति का प्रवेश करनाही प्रवृत्ति का कार्य है और मेरी प्रेरणा बिना निवृत्ति से कुछ नहीं बनता, देखो जब ईश्वर इच्छा में प्रवृत्त होता है तब संसार रचाजाताहै और उसके सारे व्यवहार गृहस्थआश्रम

में सिद्ध होते हैं, जहा इस निवृत्तिरूपी स्त्री ने जन्म लिया है और जहां से इसका पोषण होताहै--

> सहयज्ञा प्रजासृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
> अनेन प्रसविष्यध्व मेषवोस्त्विष्टकामधुक् ॥

यह तो अभिमान के वश होकर मेरे यथार्थ वाक्यको नहीं मानती किन्तु मुझे उसके साथ स्वाभाविक प्रेम है-जब यह तरुण अवस्था में संन्यास देश को जाने लगी तब मैंने इसे समझाया था कि उसका बड़ा कठिन मार्ग है और उसमें बहुत से उपाधि के ग्राम मिलते हैं जहां से निकल कर उसदेश में पहुंचना दुर्लभ होजाता है परन्तु जो इस पन्थ में तीव्र वैराग्य, तितक्षा और युक्ति की धारणा सहित चलते हैं वह सिद्धाश्रम मे पहुंचकर विश्राम पाते हैं--

> सन्यासस्तु माहाबाहो दुखमाप्तु मयोगतः ।
> योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्मन चरेणाधिगच्छति ॥
> सन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयस करावुभौ ।
> तयोस्तु कर्मसन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥

श्रद्धा बोली तुम्हारे प्रवृत्तिमार्ग में बहुत विक्षेप और बड़े उपद्रवहैं क्योंकि तुम संसार को अपनी लीलाओं में दिन रात लगाए रखतीहो और किसी को एकक्षण उपराम नहीं देती, यदि कोई मेरे निवृत्ति देश को आना चाहता है तो तुम उसे अनेक उपाय से रोकतीहो और जो वह हठ करके चल पड़ता है तो उसकी बाटमें भांत भांत के भयानक कर्तव्य दिखाती हो, इस कारण में तुम्हारे समीप रहना अच्छा नहीं समझती--

भोगैश्वर्य प्रसक्तानां तयापहृत चेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥
इन्द्रियस्येंद्रियार्थेषु रागद्वेषो व्यवस्थितौ ।
तयोर्नवशमागच्छेत्तौ ह्यस्यपरिपन्थिनौ ॥

तुम्हारे मार्गमें काम, क्रोध और लोभ तीन चोर मिलकर मोहकी रात्रि में यात्री के चित्तरूपी धनको चुरा लेजाते हैं और उसको अविद्या के कूपमें धकेलदेते हैं जहां वह नरक का दुख पाता है, इसलिये तुमसे दूर रहना ही ठीक है।

अनेकचित्त विभ्रान्ता मोहजाल समावृताः ।
प्रसक्ताकामभोगेषु पतंतिनरकेऽशुचौ ॥
त्रिविधंनरकस्येदं द्वारंनाशनमात्मनः ।
कामक्रोधस्तथालोभस्तस्मादे तत्रियं त्यजेत् ॥

शांतिने उत्तर दिया कि तुमने जो गीता शास्त्र का प्रमाण सुनाया सो उसके पाठमें प्रवृत्त होनेका तुम्हें अधिकार है किन्तु लक्षार्थको विचारे बिना मोहकी ग्रन्थि नहीं खुलती यदि तुम बुद्धिको शान्त करके विचारोगी तो तुम्हें निश्चय होजाएगा कि मेरा देश सर्वत्र है और तुम्हारा स्थान उससे बाहर नहीं-बन, पर्वतों की कन्दरा, मन्दिर, नदी, और समुद्र के तटपर जहाँ जहाँ तुम आप को निवृत्त समझकर बैठती हो वह सब स्थान मेरे प्रवृत्ति देश में हैं और यह तो सोचो कि जिस देहमें तुम्हारा निवास है वह भी मेरा आश्रम है फिर तुमने उससे कैसे निवृत्त पाई भगवाँवस्त्र, कोपीन, दण्ड, और कमण्डल जो मैं तुम्हारे भेष में देखती हूं शरीर यात्राके निमित्त धारण किया प्रतीत होताहै-

श्रद्धाबोली तुम मेरे निवृत्तरूप को अपनी मोहावृष्टि नेत्रोंसे नहीं देख सक्ती त्याग का अंजन लगाओ तब तुम्हें मेरे भेष का अभिप्राय सूझेगा, मेरे सूक्ष्म शरीर ने जो चमकता हुवा अनुभवी वस्त्र पहना है भगवाँरूप उसका चिन्ह है, धृतिका रखना मेरी कोपीन का अर्थ है, अद्वैतपद के निश्चय को मेरे हाथका दण्ड दिखाता है और शान्ति का जल मेरे कमण्डल में भराहै, संकल्पका त्याग करने के निमित्त मैंने यह भेष धारण कियाहै-

अनाश्रितःकर्मफलं कार्यंकर्मकरोतियः ।
ससन्यासीचयोगीच ननिरग्निनचाक्रियः ॥
यंसन्यासमितिप्राहुर्योगंतं विद्धिपाण्डव ।
नहिसन्यस्तसंकल्पो योगीभवतिकश्चन ॥

शान्तिने कहा हे देवी कृपा करके विचारो निवृत्ति में रूप कहाँ होता है और यदि होता है तो वह प्रवृत्ति के आश्रय है, तुमने जो अपने सूक्ष्म शरीर का स्वरूप वर्णन किया उससे भी प्रवृत्ति सिद्ध होती है, मैं तो सदा उदासीन अवस्था में रहतीहूं-

नचमामतानिकर्माणि निबध्नान्तिधनञ्जय ।
उदासीनवदासीन मसक्तंतेषुकर्मसु ॥

श्रद्धा कहनेलगी तुम्हारा गृहस्थाश्रम है जहाँ निवृत्ति कदाचित नहीं बनती वहाँतो अभिमानी जीव सदा विषयानन्द में प्रवृत रहकर न्याय और वेदान्त के पाट मात्र से औरों के उपदेशक बनजाते हैं और निवृत्ति को नहीं जानते मैंने बन और कंदरा का निवास इस हेतु से श्रेष्ठ माना है कि वहां विषयों के न होनेसे चित्तकी एकाग्रता शीघ्र होती है-

शुचौदेशेप्रातिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितंनातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥
तत्रैकाग्रंमनःकृत्वा यतचित्तेंद्रियक्रियः।
उपविश्यासनेयुंज्या द्योगमात्मविशुद्धये ॥

शान्तिने कहा तुम इन मन्त्रों के सार को नहीं समझीं, जो हृदय संकल्प विकल्प के मल और विक्षेप से शून्य है वही पवित्र देश है और वहां वृत्ति का निश्चल करना आसन की प्रतिष्ठा है ऊंचे और नीचे न रखने के अर्थ हृदय के मध्य स्थान में प्राण पवन की निस्पन्द रूप कुशापर उसकी शक्तिरूप वस्त्र को बिछाना है तब आत्म शुद्धि द्वारा शान्ति का स्वरूप भासता है, हे श्रद्धा जब तुम्हारा अंश काम क्रोध और लोभ में मोहित होजाता है तब सारे उपद्रव संसार में होते हैं यदि तुम उस अंश को नीति और यज्ञार्थ कर्ममें प्रवृतकरो और सत्संग की सहायता लो तो कोई उपाधि न रहे—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोयंकर्मबन्धनः।
तदर्थंकर्मकौंतेय मुक्तसंगःसमाचर ॥

मेरे एक हाथमें पुरुषार्थरूपी पुष्पों की छड़ी और दूसरे हाथ में श्रद्धा की गेंद है जो उस छड़ी की चोट से आकाश को चढ़ जाती है परन्तु उसकी चोट बिना पृथिवी पर गिरपड़ती है—

शान्ति—शान्ति—शान्ति

प्रथम एक समदर्शी पंडित सभा में से बोले कि वर्ण और आश्रम का अभिमान त्यागकिये बिना मनुष्य स्वतन्त्र नहींहोता—

वर्णाश्रमाभिमानीच श्रुतिदासोभवेन्नरः ।
वर्णाश्रमविहीनश्च वर्ततेश्रुतिमूर्धिन ॥

पतञ्जली मुनिने कहा कि मेरे योगशास्त्र का प्रथम सूत्र चित्तवृत्ति के निरोध को बताता है और जिसकी श्रद्धा योग में होती है उसको इसी यत्न से शान्ति मिलती है-

एक निर्द्वन्द सिद्ध बोल उठे कि आत्मा चिंतामें नहीं आती और उसका अचिंत्य होना भी नहीं बनता कि दोनों शब्द द्वन्द के प्रतिपादक हैं परन्तु उसके अचिंत्य स्वभाव से जो चिंत्वन् उत्पन्न होती है उसमें द्वन्द का प्रवेश नहीं-

नैवचिन्त्यंनचाचिन्त्य मचिन्त्यंचित्यमेवच ।
पक्षपातविनिर्मुक्तः ब्रह्मसंपद्यतेतदा ॥

इस समय श्रीवेदव्यासजी ने अपना निर्णय इस प्रकार सुनाया मेरे ब्रह्मसूत्र के आरंभ में जो "अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" के शब्द आए हैं वह सर्व सिद्धान्तों का सार है और उनका आशय अल्पज्ञभाव को सर्वज्ञता में लय करना है, जिस साधन कोटी को पतञ्जलीजी ने अपने योगसूत्र में वर्णन किया है वह मेरे ब्रह्मसूत्र के जिज्ञासा शब्द के अन्तर्गत है और ब्रह्मशब्द सिद्धकोटी का वाचक है तथा भगवद्गीता के शक्तिमन्त्र में "सर्व धर्मान् परित्यज्य" के शब्द साधनकोटी को और "मामेकं" के शब्द सिद्ध कोटी को लक्ष कराते हैं परन्तु जिसकी बुद्धि जैसी होती है वह वैसेही अर्थ खेंच लेता है, अब तुम दोनों दोनों कोटियों का अर्थ समझकर मेरे बचन पर ध्यानलगाओ

हे श्रद्धा जबतुम भक्ति को ग्रहण करतीहो त
साधन बनता है-हे शान्ति जिसकाल तुम वैराग्यद्वार
का निश्चयकरती हो तब सन्यास सिद्धहोता है-

तुमदोनों के मित्रभाव से परमार्थ की प्राप्ति है-अर्थात् भक्ति वैराग्य बिना फल नहीं देती, ग्रहण और त्याग दोनों के छूटे बिना कर्मफल का त्याग नहीं होता और समदृष्टि बिना योग और सन्यास की एकता नहीं दीखती-

सांख्ययोगौपृथग्वालाः प्रवदंतिनपण्डितः ।
एकमप्यास्थितःसम्य गुभयोर्विंदतेफलम् ॥
यत्सांख्यैःप्राप्यतेस्थानं तद्योगैररपिगम्यते ।
एकंसांख्यंचयोगंचयःपश्यतिसपश्यति ॥

सांख्य बिना योग का स्वरूप समझ में नहीं आता और योग बिना सांख्य के अर्थ नहीं खुलते अर्थात् जो वस्तु दूर प्रतीत होती है उसे सांख्य समीप दिखाता है और उसके समीप बास करना योग है इस प्रकार जिसको जितना सांख्य प्राप्त होता है उतनाही उसको योग का आनन्द प्राप्त होता है, सन्यास योग के निमित्त कियाजाता है और योग में संकल्प का सन्यास होजाता है-

सारांश यह है कि विधिपक्ष का नाम प्रवृत्ति है जिससे माया उदय होती है और निषेध पक्ष का नाम निवृत्ति है जिसमें माया लय होजाती है, हे श्रद्धा और शान्ति तुम दोनों अपना अपना पक्षपात छोड़कर दूसरे के पक्ष में अपना

होना देखलो तो दोनों को संवाद का आनन्द मिलेगा और लक्ष्यार्थ के समझने पर वाच्यार्थ का भेद मिटजाने से तुम दोनों सिद्धाश्रम में सुख पूर्वक निवास करोगी--

योगस्थःकुरुकर्माणि संगंत्यक्त्वाधनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योःसमोभूत्वा समत्वंयोगउच्यते ॥

हे महाशयों ! वराहकल्प के आरम्भ में जितनी मानुषी सृष्टी पर्वतोंपर बचगईथी वह बहुधा गृहस्थाश्रम से विरक्त होके वहाँ और नीचे के बनों में तप करती रही और ऐसा होने से संसार की व्यवहारिक उन्नति नहीं हुई तब ब्रह्माजी नें रुद्रजी से तामसी संतति उत्पन्न कराई जिससे समय के व्यतीत होनेपर अनेक मनुष्य संसार में गृहस्थी हो गये और शिवके उपासक कहलाये इस प्रकार शिव का मत सबसे प्रथम जगत में फैला इन मनुष्यों की तमोगुणी अवस्था को देखकर ब्रह्माजी नें ब्रह्मऋषी का अवतार लिया और श्रुति और स्मृति द्वारा उनको विद्या में प्रवृत किया और यज्ञार्थकर्म करने की आज्ञादी तब ब्राह्ममित प्रगटहुवा इसके उपरान्त श्रीरामचन्द्रजी का अवतार होने के समय वैष्णवमत की प्रतिष्ठाहुई और श्रीकृष्णचन्द्र के अवतारने उसकी महिमा को अधिक करदिया किन्तु इनतीनों मतोंके अनुयायी परस्पर भेददृष्टि रखने लगे तब उनका विरोध निवारण करने के निमित्त मैंने वेदव्यास का अवतार लिया और वेदान्तशास्त्र को रचकर तीनोंमतों की एकता सिद्धकरदी और यह अनुभव करके कि आनेवाले समय में राजसी और तामसी प्रवृत्ति के अधिक होजाने से मनुष्यों

की श्रद्धा द्रव्यसंचय और विषयानन्द में बहुतहोगी और वह व्यवहार को परमार्थ से उत्तम समझेंगे परमार्थ का स्मरण कराने और सोतों को जगाने के निमित्त मैंने महाभारत ग्रन्थ के भीष्मपर्व में भगवद्गीता को रचा जो किसी शास्त्रके अन्तर नहीं है और सबशास्त्र उसके अन्तर्गत हैं, वह गृहस्थी और सन्यासी दोनों की एकसी हितकारी है और जितने वर्ण और आश्रम वाले हैं उनसब को उसके पढ़ने का अधिकार है जो कोई उसके सार उपदेश के अनुसार समतायोग में प्रवृत्त होता है उसे परमानन्द मिलता है—

स्वेस्वेकर्मण्याभिरतः संसिद्धिंलभतेनरः ।
स्वकर्मनिरतःसिद्धिं यथाविंदतितच्छृणु ॥
यतःप्रवृत्तिर्भूतानां येनसर्वमिदंततम् ।
स्वकर्मणातमभ्यर्च्य सिद्धिंविंदतिमानवः ॥

जो देहधारी इस संजीवनी बूंटी का सेवन नहीं करता और सत्संगरूपी वैद्य से अपने आन्तर्यरोग का निवारण नहीं चाहता उसको आत्मिक कुशल प्राप्त नहीं होती—

अज्ञश्चाश्रद्धानश्च संशयात्माविनश्यति ।
नायंलोकोऽस्ति नपरो नसुखंसंशयात्मनः ॥

सत्संग तीन प्रकार का है—प्रथम नवधाभक्ति, साधुजन की सेवा और यज्ञार्थ कर्म का अनुष्ठान है जो स्थूल सत्संग कहलाता है—

दूसरा सूक्ष्म सत्संग है जिसमें जिज्ञासु अपने स्वरूप को पहचानने के निमित्त प्राणकी गति का द्रष्टा बनकर जीव और

ब्रह्मका विचार करता है--

तीसरा कारण सत्संगहै जिसमें अनुभवी पुरुष अपने स्वरूप को असंग और सबका प्रकाशक देखता है और उससे अधिक किसी अवस्था को नहीं मानता--

यंलब्ध्वाचापरंलाभं मन्यतेनाधिकंततः ।
यस्मिन्स्थितोनदुःखेन गुरुणापिविचाल्यते ॥

सत्संग के प्रभाव से ऐसे निश्चय को परिपक्क होना समतायोग कहलाताहै और इसकी प्राप्ति गृहस्थियोंको सुगमहै-

राजविद्याराजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
प्रत्यक्षावगमंधर्म्यंसु सुसुखंकर्तुमव्ययम् ॥
नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायोनविद्यते ।
स्वल्पमप्यस्यधर्मस्य त्रायतेमहतोभयात् ॥

जिसको वह योग प्राप्त होता है वह कर्म और अकर्म की अवस्था को सम्यक जानलेता है अर्थात् उसकी दृष्टी में अकर्म रूपी समुद्र से कर्म की लहरें उठती हुई दीखती हैं और वही लहरें समुद्र को अकर्म रूप सिद्ध कराती हैं वास्तव में दोनोंकी एकता है अध्यात्म में विचारा जावे तो समानवायु अकर्म रूपहै और प्राण और अपान का आवागमन कर्मरूप, जिसकी अपेक्षा से समान का अधिष्ठान अकर्म रूप निश्चित होता है और उन दोनों का क्रियाभाव दिखाता है--

कर्मण्यकर्मयः पश्येद कर्माणिचकर्मयः ।
सबुद्धिमान्मनुष्येषु सयुक्तःकृत्स्नकर्मकृत् ॥

ऐसे गुणातीतभाव को प्राप्त हुवा पुरुष प्रकाश पवृत्ति और मोह के देह में उत्पन्न होने पर उनसे राग वा द्वेष नहीं करता और स्वरूप के ज्ञात में मग्न रहता है-

प्रकाशंचप्रवृत्तिंच मोहमेवचपाण्डव ।
नद्वेष्टिसंप्रवृत्तानि ननिवृत्तानिकांक्षति ॥

जिसके हृदय में ज्ञान की निश्चल ज्योति का प्रकाश हो जाताहै वह अपने शरीर में सारे जगत् का विस्तार देखता हुवा पूर्ण अवस्था को प्राप्त होता है-

यदाभूतपृथग्भाव मेकस्थमनुपश्याति ।
ततएवचविस्तारं ब्रह्मसंपद्यतेतदा ॥
अनादित्वान्निर्गुणत्वा त्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोपिकौंतेय नकरोतिनालिप्यते ॥

यह पूर्ण अवस्था समुद्रवत् अचल और अनन्त है और उसमें कामनाओं की अनेक नदियाँ आकर समाजाती हैं परन्तु उस समुद्र के शान्तस्वरूप में कुछ घटाओ अथवा बढ़ाओ नहीं होता-

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापःप्रविशंतियद्वत् ।
तद्वत्कामायंप्रविशंति सर्वेसशान्तिमाप्नोतिनकामकामा ॥

पूर्वोक्त अवस्था में ठहरने वाले को जगत का मोह छूट जाता है और किसी समयके व्यतीत होनेपर निर्वाणपद में जो अवधूतों और परंहंसों का सिद्धाश्रम है निवास मिलताहै-

एषाब्राह्मीस्थितीपार्थ नैनांप्राप्यविमुह्यते ।
स्थित्वास्यामन्तकालेपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥

महावधूत अष्टावक्रजी ने कहा है श्रीवेदव्यास आपने जो निर्णय सुनाया वह यथार्थ है किन्तु जो उसमें साधन और सिद्ध कोटीका वर्णन हुआ है हमारी विज्ञानदृष्टी में वह दोनों साधन कोटीही प्रतीत होते हैं, अब मैं उस विलक्षण अवस्था का निर्णय सुनाताहूं—

प्रवृति से मनुष्य सांसारिक पदार्थों में लोभित होजाता है और निवृत्ति से उनमें द्वेषदृष्टी करता है, समता का सुख तो उसीको प्राप्त होताहै जो बुद्धिमान होकर बाल्यअवस्था में रहता है—

> प्रवृत्तौजायतेरागो निवृत्तौद्वेषएवहि ।
> निर्द्वन्दो बालवद्धी मानेव मेवव्यवस्थितः ॥

मूढ़ जितना परिश्रम निवृत्ति में करता है वह प्रवृत्ति रूप होता है, धीरपुरुष प्रवृत्ति में रहकर समता दृष्टी से निवृत्तिका फल भोगता है—

> निवृत्तिरपिमूढस्य प्रवृत्तिरूपजायते ।
> प्रवृत्तिरपिधीरस्य निवृत्तिफलभागिनी ॥

मूर्ख जबतक शान्ति की इच्छा रखता है तबतक उसे शान्ति नहीं मिलती कि इच्छा का होनाही अशान्तरूप है बुद्धिमान तत्वके लक्षण को समझकर नित्य शांत रहताहै—

> नशान्तिंलभतेमूढो यतःशान्तिमिच्छति ॥
> धीरस्तत्वंविनिश्चित्य सर्वदाशान्तमानसः ॥

घरबार के छोड़ने से राग और द्वेष से निवृत्ति नहीं

मिलती परन्तु देहाभिमान के नाश होनें पर राग और वैराग्य दोनों नहीं रहते—

परिग्रहेषुवैराग्यं प्रायोमूढस्यदृश्यते।
देहेविगलिताशस्य क्वरागःक्वविरागता॥

कोपीन लगाने पर भी अशून्य अवस्था प्राप्त नहीं होती, ग्रहण और त्याग दोनों संकल्पों के लय होजाने से वह स्वतः सिद्ध होती है—

आकिञ्चनभवंस्वास्थ्यं कौपीनत्वेऽपिदुर्लभम्।
त्यागादानेविहाया स्मादहमासे यथासुखम्॥

उस आत्मा के जानने वाले को धन्यवाद है जो देखनें सुनने छूने सूंघने और खाने के सब व्यवहारों में समतादृष्टी को नहीं छोड़ता—

सएवधन्यआत्मज्ञः सर्वभावेषु यःसमः।
पश्यन्शृण्वन्स्पृशन् जिघ्रन्नश्नन्निस्तर्षमानसः॥

वह संतोष में संतुष्ट नहीं कहा जा सक्ता और दुख में दुखी नहीं होता उसकी अदभुत् गति को वही पहचानता है जिस की वैसी अवस्था होती है—

संतुष्टोपिनसंतुष्टः खिन्नोपिनचखिद्यते।
तस्याश्चर्यदशांतांतां तादृशाएवजानते॥

पूर्णावधूत जड़भरत अपनी समाधि से चौंककर बोले मेरा सिद्धाश्रम तो परमार्थ है और उसका संक्षिप्त वर्णन यहहै कि आत्मा सजातीय रहित और आकाशवत् व्यापकहै और जीव

और ब्रह्म की भेद कल्पना रागादि दोष और सत्वादिगुण से निवृत्त है, वह प्रकृति से अतीत, जन्म और वृद्धि से रहित, सर्वगत और अविनाशी है--

एको व्यापीसमःशुद्धो निर्गुणःप्रकृतेःपरः ।
जन्मवृद्ध्यादिरहित आत्मासर्वगतोऽव्ययः ॥

वह संपूर्ण ज्ञानमय और स्वतंत्र है और नाम जात्यादिक असत् भाव से तीनों काल में पृथक है--

परज्ञानमयोसद्भिर्नाम जात्यादिभिर्विभुः ।
नयोगवान्नयुक्तो ऽभून्नैवपार्थिवयोक्ष्यति ॥

उसको एकमय विज्ञान अनेक देहों में स्फुर्ताहुवा परमार्थ है, द्वैत दृष्टीवाले अपरमार्थ को देखते हैं--

तस्यात्मपरदेहेषु सतोप्येकमयंहितत् ।
विज्ञानंपरमार्थो यद्द्वैतिनोतथ्यदर्शिनः ॥

जैसे एक पवन किसी बाँसरी में छेदों के भेदसे स्वर और अन्यछः नादों को उत्पन्न करके आप अभेद रहती है वैसेही महात्मा सप्तमण्डलों के भेदसे सप्तरूप में भासताहवा आप अभेद रहता है--

वेणुरंध्रविभेदेनभेदः षडजादिसंज्ञितः ।
अभेदव्यापिनोवायो स्तथातस्यमहात्मनः ॥
एकत्वंरूपभेदश्च बाह्यकर्मप्रवृत्तिजः ।
देवादिभेदमध्यास्ते नास्त्येवावरणोहिसः ॥

पराशर महामुनि कहनेलगे कि जड़भरतजीने जिस पार-

मार्थिक सिद्धाश्रम का वृत्तान्त सुनाया मैं उसके मार्ग को श्रद्धा युक्त यात्रियों के निमित्त चित्रद्धारा दिखाताहूं; मैंने इस विष्णु-लोक की बहुत यात्रा की है और व्यागङ्गा और भगीरथी के संगम स्थानपर निवासभी किया है अनेक महात्माओं के इस देश में विचरनेसे वहाँका अधिक महात्म्य है और उन पर्वतों और बनोंकी शोभा ऐसी है कि समान्य पुरुषों को योगसाधन विना भी वैराग्य और शान्ति का लक्ष प्रतीत होनेलगता है-भूगोल के आकार में भारतवर्ष नेत्रके समान है और उत्तरा-खण्ड नेत्र के ढले सदृश, केदारखण्ड पुत्ली के तुल्य है और बद्रिकाश्राम नेत्रका तारा है जिसमें सारा जगत समायाहवा है-

सबके अन्त में अवधूत दत्तात्रेयने कहाकि मैंने भारतवर्ष में सर्वत्र फिरकर जो चौबीस सारांश निकाले हैं उनका आशय मैं एकमन्त्र में संक्षेप से सुनाताहूं-

तू और मैं का कहना कभी भी नहीं बनता, कुल और जातिकी समझ मिथ्या है, मैं शिवहूं ऐसा निश्चय परमार्थ है अब मैं और क्या कहूं-

त्वमहंनहिहंतकदाचिदपि कुलजातिविचारमसत्यमिति।
अहमेवशिवःपरमार्थइति अभिवादनमत्रकरोमिकथम्॥

अब आप लोग मेरे शिवस्वरूप को भारतवर्ष में देखिये कि उत्तर में कैलाश पर्वत मेराजटाजूट और काश्मीर देश मेरा शिर है श्रीअमरनाथका स्थान मेरा तीसरा नेत्र है पाञ्चाल और सिन्धु देश मेरा दाहां हाथ है और बाहाँ हाथ अवध और

बंगाल में फैला हुवा है, मध्यदेश को मेरा वक्षस्थल समझो और दक्षिण देशको अधःभाग जानो जो अकाल रूप होके समुद्र में खड़ा है, सर्व तीर्थ मेरे देह में समाये हुवे हैं और हिमालय की चोटियाँ मेरी जटाये हैं जिनमें से अनेक जलधारा निकल कर देशों की परिक्रमा करती हुई समुद्र में जा मिलतीहैं और वहां से आकाश में चढ़के और हिमरूप को धारण करके फिर मेरी जटाओं में आजाती हैं और उनका ऐसाचक्र नित्य चलाजाता है, जिस समय गंगा अन्तरिक्ष से उतरी तब मैंने और अंगों को बचाकर उसकी धारा अपनी जटाओं में लेली जहाँ वह वर्षों तक घूमती रही और अन्त में उनसे टपककर देशान्तरों में नदी रूप से बहने लगी मेरे स्पर्श से उसकी महिमा अधिक होगई है और भारतवर्ष निवासियों का जीवन अन्न और जल द्वारा उस से सिद्ध होता है यदि उसका प्रवाह न होता तो भारतभूमि रेतीली हो जाती और मनुष्यों का निवास कठिन हो जाता; गंगा की मूर्ति तो संसार में प्रगट है परन्तु सुमेरू पर्वत, कल्पवृक्ष और कामधेनु अव्यक्त अवस्था में हैं अध्यात्म में विचारो तो अनुभव का स्वरूप एक चमकते हुवे पर्वतके सदृश ललाट स्थान में प्रतीत होता है जिस का सुमेरू नाम है, साधारण बुद्धि वाले सुमेरु पर्वत को पञ्चभौतिक मानकर रसायन बनाने के लिये देशान्तरों में ढूंडते फिरते हैं परन्तु वह अन्त में थककर बैठ रहते हैं और धीर पुरुष अभ्यास द्वारा उस सुवर्णमय पर्वत को अपनी देह में ही पाते हैं—

कल्पवृक्ष का ठिकाना स्वर्ग में माना गया है किन्तु स्वर्ग

का पता जानना चाहिये कि कहां है वह देहधारी का सात्विक भाव है और उसमें ज्ञानरूप कल्पवृक्ष है जो अन्य औषधियों के समान पञ्चभूत का बना हुवा न होकर अनुभव के पर्वत में लगा है और बुद्धि उस की जड़ है, मन उस का तना, आकाश शाखा, पवन पत्र, अग्नि कोंपल, जल पुष्प और पृथिवी फल है, सामान्य पुरुष अपने प्रयोजनों को सिद्ध करने के निमित्त कामधेनु को पशुओं में ढूंडते हैं परन्तु वह वास्तव में गायत्री की मूर्ति है जिस के सप्त अंगों को भली प्रकार विचारने से मनुष्य निस्पृहा हो जाता है--

हे महाशयों ! अब रात्रि बहुत व्यतीत होगई है और नाटक अनन्त हैं और इस सभा में ऐसे महात्मा विराजमान हैं जिन्होंने अध्यात्म विद्या के संस्कृत ग्रन्थों का अध्ययन किये बिना अपने सत्संग और अनुभव शक्ति से उनके सारांश को निकाला है और उसे जगत के उपकार के निमित्त समयानुसार देश भाषामें जो संस्कृत की पुत्री है वर्णन किया है-- उनका आशय किसी भांति प्राचीन सिद्धान्तों से विरुद्ध नहीं किन्तु वह गूढ़ार्थों को सूक्ष्म रीति से स्पष्ट करके मनुष्यों के उद्धार का सुगम उपाय है, गुण ग्राहक द्वेषदृष्टी को छोड़कर शब्द से लक्ष्यार्थ ग्रहण करते हैं और काव्य रचनापर मोहित न होकर सार खेंच लेते हैं कि नदी से पार उतरने के लिये नौका की आवश्यकता है उसपर चित्रकार्य के होने वा न होने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता--

नैवात्र काव्यगुणएवतु चिन्तनीयोग्राह्यःपरंगुणवता खलुसारएव ।
।सिंदूरचित्ररहिता भुविरूपशून्या पारंनकिंनयति नौरिहगंतुकामान्

हे स्वामी कबीरदास आपका अनुभव बहुत बढ़ा हुवा है सो अब आप इस सन्त समागम को अपनी उत्तम बाणी सुनाकर कृतार्थ कीजिये--

॥ सत्संग ॥

कबीरदासजी ने सभा में खड़े होकर कहा—हे महापुरुषो! मैंने काशीपुरी में एक जुलाहे के घरमें देहधारण की है कि नीच जाति वालों को अभिमान के न होने से सत्संग द्वारा आत्मिक निश्चय तुरंत मिलता है--

लघुताई सबसेभली, लघुताई सब होए।
जस दुतिया का चन्द्रमा, सीस नवें सब कोए॥

मेरा नाम कबीर है और कबीर सबसे बड़े को कहतेहैं, जिनकी दृष्टि मेरे देहपर पड़ती है वह मेरे अनुभवी वचनों से द्वेष करते हैं परन्तु जो आत्मनिष्ठ हैं वह मेरे चेतन अंशका विचार करके उसका आनन्द अपने स्वरूप में पाते हैं--

बून्दपड़ीसमुद्रमें सोजाने सब कोई।
समुद्र समाना बून्द में विरलाजाने कोई॥

इस कबीर जुलाहे की महिमा अनन्त है जिसने सारे जगत में ताना बाना फैलाया है—

असजुलहा का मर्म न जाना। जिन जग आई पसारलताना॥
महि आकाश दोगाड़ो बनाई। चन्द्र सूर्य दुइनार भराई।
सहस तारले पूरिन पूरी। अजहूं विनय कठिन है दूरी॥
कहैं कबीर कर्म सों जोरी। सूत कुसूत विनय भल कोरी॥

मैंने कोई नया पन्थ नहीं चलायाहै पर सनातन आशय को पूर्व देश की सरल भाषा में वर्णन किया है जिसको पूर्व के लोग भली प्रकार समझ सके हैं—

बोली हमारी पूर्वकी हमें लखे नहीं कोई ।
हमको तो सोई लखे जोधुर पूरब का होई ।
जहबन सिंह न संचरे पक्षी नहीं उड़ाए ।
सो बन कबीरन हांडियां शून्य समाध लगाए ॥
अशून्य तखत उर आसने पिण्ड झरोके नूर ।
ताके दिल में हूं बसूँ सेना लिये हजूर ॥
काजर कीरे कोठरी डूबनता संसार ।
बलिहारी तेहपुरुष के पैठके निकसनहार ॥
ज्ञानरत्न की कोठरी चुपकर दीनो ताल ।
पारखआगे खोलिये कुंजी वचन रसाल ॥
नगपषाण जगसकल है लख आवे सब कोई ।
नगसे उत्तम पारखी जगमें बिरला कोई ॥
हीरन की बोरी नहीं हंसन्की नहीं पांत् ।
सिंहन्के लैहँडा नहीं, साध चलें न जमात् ॥
सिंहकीरे खालड़ी मेंढा ओढ़े जाए ।
वाणी से पहचानिये शब्द है देतबताए ॥
मनमतंग माने नहीं चले सुरत के साथ ।
दीन महावत क्याकरे अंकुश नाहीं हाथ ॥
शब्द बिना श्रुति आंधरी कहो कहांको जाय
द्वार न पावे शब्दका फिर फिर भटका खाय ॥
मायासाँपन जग भयी विषले बैठी बाट ।
सब जग फंदे, फांदियां गया कबीरा काट ॥
लोहेचुम्बक प्रीतजस लोहालेत उठाय ।

ऐसाशब्द कबीरका काल से लेत छुड़ाय ॥

मेरे शब्द और बाणी अनगिनत् हैं परन्तु दो ग्रन्थ बीजक और साखी जगत में प्रसिद्ध हैं और वह नागरी अक्षरोंमें लिखे गये हैं-इनके अनन्तर मेरा एक विलक्षणग्रन्थ जिसका नाम ज्ञानसमाज है फ़ार्सी अक्षरों में लिखाहुवा है और वह किसी किसी विवेकी पुरुष के पास मिलताहै, पहले दोनों ग्रन्थ उत्तम जिज्ञासु और श्रेष्ठ अभ्यासियों के हितकारी हैं और पिछला ग्रन्थ जिसमें १२१० छन्द में वेदों और शास्त्रों का सार युक्ति सहित भराहुवा है साधु और संतों को विचार का आनन्द देनेवाला है,-इसके संपूर्ण देखने और समझने से संशय निवृत्त होते हैं और अवस्था की साक्षीमिलने से स्वरूप का निश्चय दृढ़ होजाता है और युक्तिकी धारणा से अनुभव का प्रकाश तत्काल होताहै, अब मैं आपको इसग्रन्थ के थोड़े से शब्द सुनाताहूं जिनसे बुद्धिमान मेरे आशय का अनुमान करलेंगे-

नवद्वारे प्रत्यक्ष हैं, अनुभव दसवाँद्वार ।
अनुभव शक्तिज्ञान की, ज्ञानध्यान से पार ॥
दसठाकुर इसनगरके, राजाज्ञान विचार ।
देशकाल और वस्तुसे परेजाननासार ॥
मनबुद्धिकी दौड़ है जहाँलग रूपआकार ।
अनुभवकी गतिज्ञानतक, ज्ञानशान्ताधार ॥
ज्ञेयके अन्तरज्ञान है ज्ञाताके अनुसार ।
ज्ञेयज्ञाता और ज्ञानकी आतमसे उज्यार ॥

शान्तशहर विश्राममें नहींवार नहींपार ।
निजस्वरूप की लखभई कहेकबीर पुकार ॥

ज्ञानमहल के दो दर्वाज़े सगुण निर्गुणवारी है ।
ज्ञेयज्ञाता है दोदर्वाज़े आत्म वस्तुन्यारी है ॥
कभीइसदर कभीउसदर बारीझोंका झांक ।
चिदाकाश बैठेनहीं लगेनहीं पलआंख ॥
दौड़ेनीचे दौड़ेऊंच मध्यनहीं ठहराय ।
नानाविधिके यत्नकरत हैं सूझेआपनकाय ॥
ऐसाठौर ठिकानानेड़े, पावतनाहींअन्ध ।
टुकक्षपाकर आपविचारो, मिटेसकल दुर्गन्ध ॥
ज्ञेयदेही, ज्ञाताअहं, ज्ञानलखो निजप्राण ।
स्वतः प्रकाशीजीव है अविनाशी निर्वाण ॥
एकश्वासका जीवना जैसेब्रह्मा आयु ।
कहेकबीर लखआपको ऐसा और नचाहु ॥

चाररूप संकल्प है कहूंहियेमें जान ।
सूरत, रूप, प्रकाश है चौथातेज निधान ॥
सूरत विषयस्वरूप है, विषयभास है रूप ।
निजप्रकाश है वास्ना, रसहै तेजस्वरूप ॥
सूरत जाग्रत अवस्था, रूप स्वप्नस्थान ।
निजसुषुप्ति प्रकाश है, तुर्य तेजनिधान ॥
चेतन अनुभव, ज्ञान है चौथाज्ञात विपत्त ।
चाररूप संकल्प है केवलसे उत्पत्त ॥

विनात्याग संकल्प के नहीं शान्त विश्राम ।
करनाथा सो करचुका कर कबीर आराम ॥

रामादिक अवतार सब केवल ज्ञान स्वरूप ।
है अवतार कृष्णका अचरज रूप स्वरूप ॥
चिदाकाश का भाषचित, ज्ञानभाषसोहं ।
श्रुति अनुभव भाष है, चेतन भाषअहं ॥
अहंभाप अन्तःकरण, करणभाष दसपवन ।
पवनभाष दसइन्द्रियाँ, भाषइन्द्रियाँ नवण ॥
नवणभाप सूरतभई, सूरत नानारंग ।
सूरत से सूरतभई भांत भांतके ढंग ॥
ऐसा चक्र चलायके चक्रितमानोअंध ।
निर्विकार निर्लेप तू अविनाशी निर्बन्ध ॥
एक कलाके भाप से बहुविधकर विस्तार ।
अपना आप पसारकर नाम धरा कर्तार ॥
चाहे अपने आपको, उलट आपको खोज ।
सीधे रस्ते द्वन्द है, उल्टे रस्ते मौज ॥
बाल, युवा और बृद्धता, तीन अवस्था देह ।
घटना, बढ़ना, सुकड़ना, चेतन लक्षण यह ॥
देह भाप अनुभव तलक रहे वास्ना ज्ञान ।
चिदाकाश रसवास्ना कर्मबीज पहचान ॥
विषय, वास्ना, रस विना केवल ज्ञान आनन्द ।
तन आनन्द मंगलकरन जी सुख आनन्द कन्द ॥

चिदाकाशसे पारहो, शान्तशहर विश्राम ।
शान्तशहर विश्रामका, है निज तेरा धाम ॥
कभी अजपाजाप में कभी त्रिकुटी ध्यान ।
कभी चाहे ज्योतिको खैंचे प्राण अपान ॥
कभी शून्य स्वरूपहो कभी सूरत खेल ।
कभी सुरत खिंडाएकर वड़ा होत अठखेल ॥
करना था सो ना किया पड़ा लोभके फंद ।
कहे कबीर इन ध्यानका तुझसे क्या सम्बन्ध ॥

जैसे है जैसे कहूं योग भोगका रूप ।
कीटीमार्ग कौनसा कौन विहङ्गम रूप ॥
ज्ञानसंग अनुभव मिले योग कहावे सोइ ।
अनुभव मिश्रित सुरत से भोगरूप है जोइ ॥
चितसे खेल बनायके करे रूपका ध्यान ।
मिले रूपसे रूप हो कीटीमार्ग जान ॥
ज्योंकात्यों भरपूरहै बिनाद्वन्द बिनचाह ।
सम समानहो आपमें यहीविहङ्गम राह ॥
सदाविहङ्गम आपहै बिनसंभाल बिनभीत ।
कहेकबीर निर्लेपहै त्रिगुणरहित अतीत ॥

साधोंज्ञान की आईआंधी

भ्रमकी टाटी सकलउड़ानी, मायारहत न ठाड़ी
द्वैनचितकी एकथून गिरानी, मोहबलैंडा टूटा ।

तृष्णाछान पड़ीधर्तीपर, दुर्मति बासनफूटा ॥

काम क्रोध लोभ मोह नाथो अहंकार छिनमाहीं।

जोड़के कर बरजोर निवारो पाँचोंरोवेंधाइँ ॥

आंधी पाछे जो जल बरसे तहाँ नीरजन भीना।

कहत कबीर भयो उज्यारा उदयभान तमछीना ॥

मेरे आगे मैं खड़ा तासे रहो लुकाए।

कबीर प्रघटपीयु है जो आपा मिटजाए ॥

समझसरीकी बात है, कहनसरीकी नाहिं।

जेते ज्ञानी देखिये तेते संशय खाहिं ॥

संशयखाया सकलजग' संशय कोउ न खाय।

जो लागे गुरु शब्दसों चुनचुन संशय खाय ॥

कहनीथी सो कहचुका कहूं बजाकर ढोल।

स्वांस स्वांस पर जात है त्रिलोकी का मोल ॥

इतना कहकर कबीरजी ने श्रीबाबा नानक से निवेदन किया कि आप का अवतार कलियुग में मनुष्यों के उद्धार के निमित्त हुआ है कृपा करके अपने सिद्धान्त को सुनाइये--

गुरु नानकजी ने अपनी प्रेमभरी बाणी से वर्णन किया कि मैंने तलमण्डी के स्थान पर क्षत्रिय बंश में जन्म लेकर और गृहस्थाश्रम में रहकर और वैराग्य और अभ्यास द्वारा परमार्थ का निश्चय करके अपने आशय को ग्रन्थ साहब में प्रघटकिया है जिसके अन्दर और आत्मदर्शी महात्माओं के उत्तम वचन भी एकत्र किये हुये हैं विशेष करके स्वामी कबीर के अमूल्य शब्द उसमें अवस्थित हैं, समय के प्रभाव से संस्कृत

विद्या के न्यून होजाने पर मैंने अपना वेदोक्त कथन पाञ्चाल देशकी भाषा में व्यक्त किया और अनेक पुरुषों ने उसके पाठ और मेरे सत्संग से पारमार्थिक लाभ उठाया, मैंने कोई नवीन मत नहीं निकाला है किन्तु प्राचीन सिद्धांत के अनुसार अकाल पुरुषकी भक्ति सहित बन्दना उपदेश करके श्रीजपजी के पाठको मुक्तिदायक बताया है और उसकी प्रथम पौड़ी यह है–

एक ओंकार सत्यनाम कर्ता पुरुष निरभय निर्वैर अकाल मूर्ति अयोनिशुभांग गुरुप्रसाद जप, आदि सचयुगादि सच है भी सच नानक होसीभी सच–

मेरी चौथी गद्दी में गुरु रामदासजी ने अपने शिष्यों को अमृत छकाने के निमित्त एकसर के तीरपर निवास करके उसका महात्म बढ़ाया है और वह स्थान जगत में अमृतसर के नाम से प्रसिद्ध है जहाँ ग्रन्थ साहब का दर्बार नित्य लगा रहता है और भक्तजनों को उसके दर्शन से मन में आनन्द और चित्त में शान्ति प्राप्त होती है, मेरी संतित को वेदी की पदवी मिली है और मेरे दस अवतार अथवा दस बादशाही मानी जाती हैं जिनका विस्तार पूर्वक वर्णन कई ग्रन्थों में लिखा गया है सब से पिछला और अदभुत अवतार गुरू गोबिन्दसिंह का है जिन्होंने धर्मकी रक्षा के लिये समयकी आवश्यक्ता से सिंहों का मत बनाया और खानपान में जाति भेद को मिटाकर अपने सतोपदेश से उन्हें धैर्य और एकता का लक्षण बताया और ऐसी युक्ति से सनातन धर्म के वृक्षको उस समय की बलवान आंधी से बचालिया उनके चरित्रों का वर्णन गुरु

मुखी ग्रथों में विस्तार से लिखा हुवा है और उनकी संतति सोढी कहलाती है—

मेरी मेरी कहत कहत हितसे बांधो चित्त
अंतकाल कोई नासंगी यहहै अचरजरीत
नानक वहजन पारपरें जोगावें प्रभु के गीत

अब गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपनी मधुर वाणी से यों कहा कि मेरा सिद्धांत एक रामनाम है जो सारे जगत् में रम रहा है और जिसका धार्मिक चरित्र मैंने भक्तजनों के हितार्थ अवधदेश की भाषा में लिखा है, यह ग्रन्थ भारतवर्ष में तुलसीकृत रामायण के नाम से प्रसिद्ध है और उसके द्वारा अनेक प्रेमीजन प्रातः सायं रामावतार का गुणानुवाद वर्णन करते हुवे अपने जन्म को सफल करते हैं—

जागिये कृपानिधान, पंछीबन बोले
प्रात भानु उदितभये, जीवजन्तु सुखितभये
भँवरन गुँजारकीनि, कँवलन दलखोले
जागिये कृपानिधान, पँछीबनबोले
शशिज्योति मँद भई, चकवी पिया मिलन चली
सुगँध पवन चलनलागि, शाखें द्रुम डोलें
जागिये कृपा निधान, पंछीबनबोलें
तुलसीदास अति आनन्द देखके मुखारबिन्द
दीननको देतदान भूषण अनमोले
जागिये कृपा निधान पंछी बन बोले

प्रालब्ध पहले बना पाछे बना शरीर
तुलसी यह अचरज बड़ा मन नहिं बाँधे धीर
जहां राम नाहि काम है जहाँ काम नाहिंराम
कह तुलसी कैसे बसें रव रजनी एक धाम
मन चाहे वैराग्य को तन चाहे आराम
द्विमिदामें दोनों गये माया मिली न राम
तुलसी मन तो एक है चाहे जिधर लगाय
भावें हरिकी भक्तिकर भावें कुमति कमाय
सब बन तुलसी होय रहे सब पर्वत सालिग्राम
सबनदियां गंगा भई जब मन प्रगटे राम

इतने में राज पत्नी मीरांबाई ने कृष्ण के प्रेम रंगभीने ऐसे गायनसे सब महापुरुषोंके हृदयमें वैराग्यकी अग्नि भड़कादी-

मैंतोरे रंगराँची, साँवरे मैंतोरे रंगराँची
जिनके पिया परदेस बसत हैं लिख लिख भेजें पाती
मेरा पिया मेरे घटमाई बचन करत शर्माती
मैंतोरे रंगरांची, साँवरे मैतोरे रंगराँची
नेहकातेल, प्राण का दिवरा और सुरत की बाती
अनुभव ज्योति एकरस ठाडी ऐसी जगे दिनराती
मैंतोरे रंगराँची साँवरे मैतोरे रंगराँची
संगकी सखियां मधुरापीपी होय रहीं मधुमाती
मैं मधुपीयो प्रेम भटी का मस्त रहूं दिन राती
मैंतोरे रंगराँची साँवरे मैंतोरे रंगराँची

मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरा न कोई
असुवन जल सींच सींच प्रेम बेल बोई
नयनन से प्रभु लगन लागी होनी थी सो होई
मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरा न कोई
सन्तन संग बैठ बैठ लोक लाज खोई
अब तो बात फैलगई जानत सब कोई
मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरा न कोई

मैंतो भईरे बावरी मेरा मर्म न जानें कोई
छूरी ऊपर सेज हमारी पीड़न किस विध होई
घायलकी गति घायल जाने और न जाने कोई
मीरांका दुख तभी मिटे जब वैद साँवरा होई

काव्य मंडल के सूर्य श्रीसूरदासजी ने कहा कि मैंने चर्म दृष्टी से कृष्ण भगवान के परभाव का दर्शन दुर्लभ जानकर अपने प्रज्ञाचक्षु द्वारा उनके चरित्रों को आश्चर्यवत देखा और यथाशक्ति वर्णन किया है और ऐसे मेरे अनेक शब्द भारतवर्ष निवासियों के मुखसे गाये जाते हैं जिनमें से अब थोड़े से आपको सुना देता हूं—

चकवीरी चल चरण सरोवर, जहां नहिं प्रेम वियोग ।
जहां भ्रम निशा होत नहीं कबहूं, वह सरवर सुख योग ॥
सनकसों हंस, मीनसों मुनिजन, नखरवि प्रभाप्रकाश ।
प्रफुल्लितकमल, निमिषनशाशि उडुगुंजत निगमसुबास ॥
तहींसर सुभग मुक्तिमुक्ताफल, सुकृतविमल जलपीजिये, ६

सोउसछोड़ कुबुद्धिविहंगम, यहाँरहे क्याकीजिये ॥
तहाँश्रीसहित सहस्त्रहरि क्रीड़त, बलबलसूर्यदास ।
अब नसुहावे विषरसझील, वह समुद्रकी आस ॥

जलमें मीनपियासी देखआवत मुहेहाँसी
सूरसागर नितभरोहीरहत है डोलतफिरत उदासी

श्रीदादूजीने यह सरल वचनकहे कि मैंने नतो कोई विद्या पढ़ी और न कभी अक्षरलिखे किन्तु चेतन पुरुष ने मेरेअन्तर जैसीप्रेरणा की वहमेरे वाणीबनकर निकली, चैतन्य अद्वैत और सबका साक्षी है इसकारण मेरेकथन में जिसको ग्रन्थका रूप मिला है प्राचीन महात्माओं के वाक्यों से आशय का भेदनहीं है अर्थात् एकचैतन्य अपनी महिमा पम्परा से वर्णन करता चला आया है--

अरेमन मेरे कुछ भी चेतगंवार ।
फिरपाछे पछताएगा आवे न दुजीबार
काहेरे मन भूलाफिरत है काया सोंच विचार ।
जिनपन्थों तुहेचलनाहोगा सोईपन्थसंवार
आगेबाट जो विषयीमनरे ज्यों खांड़ेकीधार ।
दादूदास मनसाँइ सुधकर खोडेकामनिवार

सुंदरदासजी ने कहाकि मैंनेगुरुदेव दादूजी के सतसङ्ग से आत्म लाभपाया है और अपनी अनुभवी अवस्था का वृत्तान्त सुंदरविलास नामकग्रन्थ में लिखा है जिसकाप्रबन्ध अनोखा होने के कारण अर्थ समझने के लिये तीव्रबुद्धि की आवश्यकता है--

ज्ञानदियो गुरुदेवकृपाकर दूरकियोभ्रम खोलकिवाड़ो
अबकिया कोनरहीकरनी यहचित्तलगोपरब्रह्मपियारो
पाएविना चलियेकहठां अब पंगुभयो मनमित्तहमारो
सुंदरको एकजानसके यह गोकुलगाँवका पैंडोहीन्यारो
एकअखंडित ज्योंनभव्यापक बाहर भीतर है एकसारो
दृष्ट नमुष्ट नरूप नरंग नरक्त नपीत नश्वेत नकारो
चक्रितहोय रहेअनुभव विन जाघटमाहीं नज्ञानउजारो
सुंदरको एकजानसके यहगोकुलगाँवका पैंडोहीन्यारो
द्वन्दविना विचरे वसुधापर जाघटभीतर ज्ञानअपारो
काम नक्रोध नलोभ नमोह नरोग नद्वेष नथारो नम्हारो
योग नभागे नत्याग नसंग्रह देहदशा ढाको नउघाड़ो
सुंदरको एकजानसके यहगोकुलगाँवका पैंडोहीन्यारो
लक्षअलक्ष न दक्षअदक्ष, न पक्ष अपक्ष, न तुल्यनभारो
झूंट न साँच, अवाच्यनवाच्य, काञ्च नकञ्च, न दीनउदारो
जान अजान, न मान अमान, न सान गुमान, न जीतन हारो
सुंदरको एकजानसके यहगोकुलगाँवको पैंडोहीन्यारो
प्रीतिकीरीति कछूनहींराखत, जात और पातनहीं कुलगारो
प्रेमकानेम कछूनहींदीखत, लाज और आनलगे सबखारो
लीनभये प्रभु में अभ्यन्तर आठोंयाम रहेमतवारो
सुंदरको एकजानसके यहगोकुलगाँवका पैंडोहीन्यारो

दक्षिण देश के पंडित कृष्णदास भट्ट ने वर्णन किया कि मेरा एक शिष्य कुसंगदोष से प्रमादी होके दुराचार में जाफंसा था और मेरे सत्योपदेशपर विश्वास नहीं लाता था तब मैंने

उसके स्वभाव को विषय रसिक पहिचान कर एक ग्रन्थ लिखा जिसमें राजा विवेक और राजा महामोह के संग्राम का अध्यात्म वर्णन और स्त्रियों का अलंकार सहित वृत्तान्त है और वह प्रबोध चन्द्रोदय नाटक कहलाता है स्त्रियों के वृत्तान्त पढ़ने के निमित्त उसकी इस नाटक में रुची हुई और जब पाठ के प्रताप से उसकी दृष्टि लक्षार्थ पर पड़ी तो उसकी प्रमाद अवस्था जाती रहीं और वह सुशील होकर ब्रह्मविद्या का जिज्ञासु होगया–

गोस्वामी बनवारीदासजी (जिन्होंने अपना नाम काव्य रचना में वलीराम रखा था) कहने लगे कि मैं शहज़ादा दाराशिकोह का दीवान था इस हेतु से मेरा और उनका संग बहुत कालतक रहा यह शहज़ादा बड़ा गुणग्राहक और अद्वैतपद की प्राप्ति का अभिलाषी था इस कारण उसनें संसार के सर्व मतों के सिद्धान्तों को भली प्रकार पढ़ा और विचारा परन्तु उनसे उसके संशय का निवारण नहीं हुआ तब उसने बहुत से पंडितों और सन्यासियों को काशी के स्थानों पर श्रद्धापूर्वक एकत्र करके उनकी सम्मति से बावन् उपनिषदोंका फ़ार्सी भाषा में उल्था किया और अन्यमत का अनुयायी होने पर भी अपनी प्रस्तावना में यह लिखा कि सर्व मतोंमें मुझे अंगउपदेश मिला परन्तु उपनिषद सर्वांगी होके आत्म पद का संपूर्ण ज्ञान देते हैं और जो कुछ मैं ढूंडरहाथा उसको मैंने यहाँ पाया–

एक दिन जब मैं उनके पास गया तो वह किसी खेलमें लगे थे मैं बहुत समय तक वहां बैठारहा पर उन्होंने मेरी ओर नहीं देखा तब मेरे मनमें अपनी दीन अवस्थाके विचारः

से वैराग्य उत्पन्न हुवा और मैं वहां से उठकर और घरबार त्यागकर नगर से बाहर चलागया और एक स्थान पर पांव पसारकर लेट गया, जब शाहजादा खेल समाप्त कर चुका तब उसने मुझे वहां न पाया और मेरा वृत्तान्त लोगों से सुनकर मेरे पास आया और पूछने लगा, वलीराम तुमने पांव कब से फैलाये मैंने कहा जब से हाथ समेटे, फिर उसने प्रश्न किया कि हाथ कबसे समेटे मैंने उत्तर दिया जब से पांव फैलाये—

शाहजादे ने मुझसे नगर में चलनेकी याचना की परन्तु मैंने कहा तुम्हारी बंदना में बैठे हुवे मुझे इतना समय व्यतीत हुवा और तुमने मेरी ओर दृष्टि भी न की अब मैं उसकी बन्दना करता हूं जो अष्ट प्रहर मुझे देख रहा है और जिस के प्रथम चरण में यह प्रताप है कि आप मुझे यहां ढूंडते आए, मैं उसको कैसे छोडूं फिर वहां से मैं हरद्वार चलाआया और उत्तराखंड में विचरने लगा इस अवस्था में मैंने कई ग्रन्थ फ़ारसी और देश भाषा में लिखे और बहुत से काव्य प्रबन्ध शब्द कहे और प्रबोध चन्द्रोदय नाटक के प्रिय ग्रन्थ का संस्कृत् फ़ारसी से अनुवाद किया, मेरे रचे हुवे ग्रन्थ और वाणी जिनमें सनातन अद्वैतधर्म का प्रतिपादन है किसी किसी विवेकी पुरुष के पास मिलेंगे अबमैं अपना निश्चय थोड़े से शब्दों में दर्साए देताहूं—

देह वही आतम वही वली दूसरा नाँहिं
ज्यों मिश्री में मधुरता त्यों हर हमरे माँहिं

साधो सहज समाध भली है
गुरु प्रसाद जादिन से लागी कभू नेकनटली है
आंखन मूंदूं कानन रूंधूं कोई कष्ट न धारा ।
उघड़ेनयन पहचाना हंसा सुन्दर रूप निहारा ॥
जेताचलूं सोई प्रदक्षणा, जो कुछ करूं सो पूजा ।
गृहउद्यान एक सम जाना भाव मिटाया दूजा ॥
शून्य महल में आन समाये, मिलन वासना त्यागी ।
सोवत जागत ऊठत बैठत ऐसी ताड़ी लागी ॥
यहहै रहनी यहहै गहनी वली प्रघट कहगाई ।
दुख सुख से जोपरे परंपद वहपद है सुखदाई ॥
साधो सहज समाधभली है

कर कर फिर देख और फिर फिर करदेख,
देख देख फिर देख कन्दमूल खायके ।
तीर्थन डोल देख, बोल और अबोल देख,
डोल अण्डोल देख, बन बन जायके ॥
चिंता बढ़ाय देख, मन अमाय देख,
साखी पदगाय वली गंगाजल न्हायके ।
अखंड सुख आवे नहीं, आपबिन पावेनहीं,
जोलों समझावे नहीं सोहं मनायके ॥

इस समय कविराय गिरिधरजी ने अपने मुखसे भक्ति और ज्ञान की समता दर्सानेवाले यह बचन सुनाए ।

आप कदाचित बिछड़ानाहीं काको ढूडत जोगा ।
कैसे कहूं जो कभि बिछड़ा है अचरज मानेलोगा ॥

कर्म तपस्या योग उपासन सब हैं जान वियोगा ।
अमृत पीना बैठगुफामें हैं आतमबिन रोगा ॥
पवनबजावत् अनहद्बाजा, मूरखजानत् भोगा
झिलमिलज्योति जहाँदीखत हे है आतम का फोगा
पहुंचे गगन मण्डल में जाकर प्राण अपान संयोगा ।
सुधबुधसारी तहाँबिसरावे है आतमका सोगा ॥
कृपाकरी गिरिधर परमानन्द जाना जानभूजोगा

तब उन्होंने कृष्णावतार के स्वरूपको अति रसीली बाणीसे यों सुनाया ।

चिद्घनरूप हमारा ऊधो चिद्घन रूपहमारा ।
शून्य अशून्य जहाँकुछनाहीं, अन्धनहीं उज्यारा ॥
जड़ चेतन और भ्रम अभ्रमानही धार आधारा ।
सुख दुखना सूक्ष्मस्थूला नाहीं वार नपारा ॥
षट्इन्द्रिय कहीं उपजीनाहीं कैसेहो संसारा ।
नीचा ऊंचा है कुछनाहीं ना होला ना भारा ॥
अचरजआप आप में ज्ञाता सुनिये परांपियारा ।
जीवईश और ब्रह्मकहाँ है कहाँसार आसारा ॥
हर्षशोक और ज्ञानाविज्ञाना नहींजीत नहींहारा ।
कभीकुछ उपजाही नाहीं ऐसाबना पसारा ॥
एक नदो, लम्बा ना चौड़ा, ना आचार विचारा ।
कर्म न योग न चराथिर कबही रहूंसदा एकसारा ॥
घाटा बाधा है कुछनाहीं, ना आकार मकारा ।
आदि अन्त मध्यनहीं पावत ना मीठा ना खारा ॥

क्रृपाकरी गिरिधर परमानन्द खुलगये भ्रमकिवाड़ा ।
रूप अरूप तहाँ कुछनाहीं जाना जाननहारा ॥

परंहंस वह हंस है चुगते सोहं चोग
अपने आत्मध्यान में रहँदेसदा अरोग
रहँदे सदा अरोग सर्वसे करी खलासी
सब से भये उदास जेते हैं भेष निवासी
कहे गिरिधर कविराय जिन्हाल कृष्ण सो कंस
ऐसा जाको ज्ञान है सो कहिये परंहंस

गोस्वामी चर्णदासजी बोले कि मैंने श्रीशुकदेवमुनिके ज्ञान स्वरूप को अपना गुरुमाना है और उनके प्रसाद से ब्रह्मानन्द को अपने अन्तर अनुभव किया है ऐसी अवस्था में जो दोहे और चोपाई आदिक का उच्चारण मेरे मुख से हुवा है उससे भाषाग्रन्थ रचे गये हैं और उनमें से एक में तो अष्टांग योग का सम्पूर्ण वर्णन है और दूसरे में भक्ति और ज्ञान योग दिखाये गये हैं जिनकी शास्त्रानुसार युक्ति को धारण करके जिज्ञासु समाधि पर्यन्त चढ़ता चला जाता है इन ग्रंथों की भाषा अति सरल है और उनसे वह लोग भी लाभ उठासक्ते हैं जिनको संस्कृत का अभ्यास नहीं—

सगुण देखे सकल अविनाशि निर्गुण दृष्टि न आवे ।
योगी किसका ध्यान धरे और चित्त कहां ठैरावे ॥
कान फूंक सत गुरु क्या देवे क्या उपदेश सुनावे ।
किस आशय को लेकर पंडित अर्थ वेद बतलावे ।

ये सुनकर बोले सुख देवा गुरु एक शब्द सुनावे ।
अक्षर जान परम सुख पावे आप में आप समावे ॥
सर्गुण निर्गुण भेद मिटावे ज्ञान कला समझावे ।
ज्यों का त्यों दिखलावे भीतर ठौर भ्रम नहीं पावे ॥
चरणदास सतगुरु की महिमा वेद शास्त्र गावे ।
परम तत्व का भेद बतावें आपा आप लखावे ॥

भक्ति समाधि

सब इन्द्रियन को रोक कर हरि चरणन को ध्यान ।
बुद्धि रहे सुरत हू रहे तो समाधिगत जान ॥
ध्याताविसे ध्यान में ध्यान लीन हो धेय ।
बुद्धिलीन सुरत ना रहे पद समाधि लखलेय ॥

योग समाधि

आसन प्राणायाम कर पवन पंथ गहले ।
षट चक्र को छेदकर ध्यानशून्य में दे ॥
आपाविसे ध्यान में रहे सुरत नहीं नाद ।
होवे लीन क्रिया रहित लागी योग समाध ॥

ज्ञान समाधि

जब लग तत्व विचार के कहे एक और दोय ।
ब्रह्म भन बांधे रहे यहां लग ध्यानहि होय ॥
मैं तू यह वह भूलकर रहे जो सहज सुभाव ।
आपादेह उठाय के ज्ञान समाध लगाव ॥
ज्ञान रहित ज्ञाता रहित और रहितज्ञेजान ।
लगी कभी छुटे नहीं यह समाध विज्ञान ॥

दयालजी अनेनोंने अब अपने दी शब्द सुनाये
ऐसे लखरूप लखोमें लखजाकी लखवेको जनमुनियत्नहीं करतेहैं
जैसे मृग हू की नाभ में बसत घन्सार सार,
मूरख गंवार योंही पच पच मरत हैं ॥
अचरज है भारी आप में भुलाय लोग,
हाथ की आरसी को दीपक जरत हैं ।
दयाल अनेमी प्रेमी ध्यानहूते पार आप,
ध्यान में न आवे ताको ध्यान ही धरत हैं ॥
ज़िन्दा रहोरे जिया, ज़िन्दा रहोरे
तू सदा अखंड, नहीं खंड कबहूँ, मृत्युकी चित्वनी किस करोरे
तेरो वार पार संसार सागर नहीं, नाव और बोहता कहाँबांधे
भ्रम भय शोक और मोह को मृगनहीं,
धनुष और बाण तों किसेसाधे
आयो नांहिं तो जाएगा कौन गृह, सोयो नाँहि तो कहाँ जागे
उपज्यो नाँहि तो बिनस्बो काहेते, खेत है नाँहि कहाँ लड़े भागे
गगन है नाँहि तो शब्द कांते उठे, दूसरो नाँहिं तो भेद कैसा
पिंड है नाँहि तो रोगकाको लखे, आप आपे उलट ज्ञान ऐसा
देव है नाँहि तो सेवका की करूं, क्रिया है नाँहि तो कहाँकर्मम
आदनहीं अन्त और मध्यकहा वर्णिये,
आप आपे उलट सहज मर्मम्
धरण आकाशनहीं गमन कापेकरूं,
शून्य है नाँहि तो कहाँ समाधूं
कुछ गयानाँहि तो खोजका काकरूं,
सिद्ध और साध्य कहो कौन आखूं

जीव है नाँहि तो ईश कहा बोलिये,
रूप है नाँहि तो कहा कहिये
सुरत और नृत तन मन सकल जगनहीं,
आपसे आप निज ख्याल रहिये
द्वन्द है नाँहि तो न्याय काकाकरूँ, बिछड़ाहोय तो मिलनजाई
महा हैरान विज्ञान आश्चर्यमत, आप आपलोक में देदिखाई
जीव और ईश भेद रञ्चक नहीं, भेदकी बात को ज्ञान जाने
ज्ञानकी कलासे ज्ञानका चाँदना, ज्ञान से ज्ञात मिल यों बखाने
विमलमत परहरी, चितवनी चितधरी, तुर्यातीत में परंवासा
दूत भगवान् भगवान् निजघरभये, आपे विचारते मिटी प्यासा
ज़िन्दारहोरे जिया, ज़िंदारहोरे—

इस समय जगजीवनदासजीने अपनी अवस्था का वृत्तांत काव्य में कहा ।

आनन्द के सिंधु में आनबसे तनिको नरहो तनको तपनो ।
जब आप में आपसमायगये तब आप में आपलहो अपनो ॥
जब अपना आपलहो अपनो तब अपनाही जाप रहोजपनो ।
जब ज्ञान का भानु प्रकाश भयो जगजीवन होयरहो स्वपनो ॥

इतने में पंडित निश्चलदास कहनेलगे कि मैंने वेदान्त शास्त्र को भलीप्रकार विचारकर विचारसागर नामक ग्रन्थ लिखा है जिसको अनेक साधुजन पढ़ा करते हैं और उसके शब्दों के अर्थ बुद्धि के बल से सिद्ध करते हैं—

जो सुख नित्य प्रकाश विभूः नाम रूप आधार ।
मतिनलखे जहिमतिलखे, सो मैं शुद्ध अपार ॥

एक परंहंस महात्मा जिनके स्वरूप से प्रतीत होताथा कि उनको अपने देहका अध्यास नहीं है और उनकी वृत्ति ब्रह्माकार होरही है सभाके मध्य दृश्यमान हुवे और मौन अवस्था धारण किये खड़े रहे सभामें से किसी पुरुषने उनसे प्रश्न किया हे स्वामी आप चुपचाप कैसे खड़े हैं आपका क्या नाम है और कहां स्थान है, परंहंस अपनी निर्वेद अवस्था में बोलउठे कि मुझे कोई दूसरा नहीं दिखता जिससे सम्भाषण करूं और जितने नाम हैं उनका रूप से सम्बन्ध है मैं अरूपहूं इसकारण अनाम अवधूत कहलाताहूं और एकदेशी नहीं जो अपना स्थान बताऊं किन्तु सब स्थानोंमें अवस्थितहूं, तुमने जो मेरे देहको देखकर नाम पूछा है और मुझमें जीवसंज्ञा की कल्पना की है वह यथार्थ नहीं है अब सावधान होकर सुनिये-

(१) चैतन्य काजो आभास अन्तःकरण में पड़ता है बुद्धि उसे जीव मानलेती है ।

(२) चैतन्य का आभास जो माया में पड़ता है उसको अनुभव ईश बताता है ।

(३) जो वास्तव में नहीं हो परन्तु अविद्या से प्रतीत हो उसका नाम माया है ।

(४) वह ज्ञान निश्चय जिसमें अविद्यारूपी माया लय होजाती है ब्रह्मशक्ति है ।

(५) ब्रह्म का ध्यान विचार है और सब ध्यान कल्पित हैं ।

(६) जो भाव और अभाव का साक्षी होकर उन दोनों को अनुभवकरता है वह स्वरूपज्ञान है ।

(७) अविद्या का अर्थ भ्रमअज्ञान और विद्या का आशय आत्मज्ञान है और स्वरूप ज्ञान इन दोनों का अधिष्ठान है, विद्या और अविद्या का परस्पर विरोध है स्वरूप: ज्ञान निर्वैर होके दोनों का एकसा प्रकाशक है।

(८) जीव न तो जन्मलेता है और न मरता है, नामरूप व्यक्त और अव्यक्त होता रहता है जहां पंचभूत की ग्रन्थि पड़ती है वहाँ चैतन्य मायाको प्रकाश देता है और जहाँ वह ग्रन्थि टूटजाती है वहाँ उसका प्रकाश नहीं पड़ता, वास्तव में न कोई आता हैं न जाता है।

(९) चैतन्य जाग्रत में चेष्टा करता है, स्वप्न की समय मोद में प्रवृत्त हो जाता है और सुषुप्ति में चित और आनन्द दोनों लक्षणों को अपने सत्स्थान में गुप्तकर देता है।

(१०) तुर्य अवस्था को ब्रह्म का ज्ञानस्वरूप और तुर्यातीत भाव को ब्रह्म का विज्ञानस्वरूप समझना चाहिये।

(११) जब वृत्ति जाग्रत और स्वप्न की संधी में खड़ी होती है अर्थात् जिस अवस्था में अभ्यासी पुरुष न तो संपूर्ण जागता है और न संपूर्ण सोता है उस का नाम जीवन मुक्ति अथवा सविकल्प समाधि है और उस का साधन नासाग्र ध्यान है।

(१२) जब जाग्रत अवस्था पर सुषुप्ति प्रगल्भ होजाती है अर्थात् जिस गति में अभ्यासी पुरुष को जगत् का भाव स्वप्नवत भासता है उसको विदेह मुक्ति अथवा निर्विकल्प समाधि कहते हैं और उसका साधन त्रिकुटी ध्यान है।

उसे कहना चाहिये जो संपत और विपत के प्राप्त पर अपने धैर्य में स्थित रहता है ।

विज्ञानी उसे कहना चाहिये जो जगत् के भाव और अभाव से अपनी दृष्टी हटाकर आत्मानन्द में एकरस मग्न रहता है ।

विज्ञानी कहूँताय भाव अभाव न जहाँकछु ।
साधन सिद्ध न कोय जैसो को तैसो सदा ॥
उत्पत्ति प्रलय न कालो न कर्म ।
न ज्ञानी अज्ञानी न वर्ण आश्रम् ॥
जागे न सोवे न ऐसो न वैसो ।
है सच्चिदानन्द जैसो को तैसो ॥

मैंने अपनी ज्ञान अवस्था में कई ग्रन्थ रचेथे जिनमें से एक संक्षिप्त ग्रन्थ 'ब्रह्मविलास' नामक है और वह बड़े बड़े संशयों को छोटे छोटे शब्दों से निवारण करके ब्रह्मजिज्ञासु को विचारद्वारा परंलाभ पहुँचाता है, जो सिद्धान्त मैंने आप को ऊपर सुनाये उनका मर्म उसग्रंथ में लिखा हुआ है, इतना कहकर अनामअवधूतजी ने मौन धारण करलिया—

स्वामी विशुद्धानन्दजी ने वर्णन किया कि मैंने अपने शरीर का नाम पहिचान के निमित्त काली कमलीवाला रखा है और इसदेह धरने का यह उत्तम कार्य समझा है कि साधु और सन्तों की सेवा में मनुष्यों की श्रद्धा बढ़ाऊं और ऐसे उपाय से उनको सत्सङ्ग में प्रवृत्त करूं जिसमें उनका जन्म सफल होजावे, मेरा निश्चय है कि जितने ऋषी और मुनि,

अवधूत और परंहंस किसी समय देह में व्यक्तहोके अव्यक्त होगए हैं उनके ज्ञानस्वरूप का अभाव नहीं और वह साधु और संतों के भेष में व्यक्तहोकर उत्तराखंड में विशेषकरके विचरते रहते हैं अर्थात् जो जो महात्मा जिस जिस प्राचीन महर्षि के आशय को धारण कियेहुवे हैं वह ब्रह्म कोटी में उनका ज्ञानमय आकार है, यदि उनके देहकी अनुरूपता तो प्रतीत नहीं होती परन्तु ज्ञानदृष्टिमें उनके स्वरूप कासनातन ऋषीश्वरोंसे भेद नहीं, ऐसे महापुरुषोंकी सेवा और सत्संगसे परमार्थ का लाभ विचार के मैंने अपनी प्रेरणा द्वारा सज्जनों से ऋषीकेश की तपो भूमि में प्रथम एक चेत्र खुल्वादिया जहाँ संतों का सत्कार भली प्रकार होता है इसके अनन्तर लछुकसर, हरद्वार सत्यनारायण का मंदिर, देवप्रयाग, श्रीनगर, बद्रिकाश्रम, किदारनाथ उत्तरकाशी, और गंगोत्री आदिक उत्तराखंड के स्थानों में अनेक चेत्र बनवादिये हैं जहाँ महात्माओं को भोजनके निमित्त औरों से भिक्षा की आवश्यक्ता नहीं होती—

मैंने इससमय का हितकारी एक पक्षपातरहित ग्रन्थ लिखा है जिसका नाम अनुभव प्रकाश है और जो विष्णुपुराण के इतिहास के गुढ़ार्थों को खोलता हुआ पढ़नेवालों की शंकायें दूरकरता है, अपने देह धरने के इतने कार्य को पूराकरके मैंने अव्यक्तपद में विश्राम किया और मेरी त्रिमूर्ति श्रीरामनाथजी, स्वामी आत्मप्रकाश और चैतन्यदेव अब भी प्रघट हैं—

एक निर्मलेसाधुने सभा में यह शब्द रामावतार की स्तुति में सुनाये ।

सेतुकरे जिनसागर पे सबदेवन् के दुख दूरमिटाये ।
रावण के दशसीसकटे सो विभीषण के सिर छत्रफिराये ॥
गौतमनार उद्धारकरी, मिथुलापति के जिन भवन सुहाये ।
सिया समेत नमूं तिनको एकासन बैठ महाहर्षाये ॥
कलि के सबदुख निवारण को भवतारन को जगभीतर आए।
जगजीरण साधन दूरकरे दृढ़साधन रामही नाम बताये ।

जानभुजा कटिका हरि के सम, कन्चप्रभा दृग हैं मधमाते ।
कोटिसुरांगन नाचत हैं और गन्धर्व आएसभी घुरगाते ॥
भवन भण्डार अपारभरे धन, जाविध आपरचे सो विधाते ।
जोविध याहि भयीतो कहा, जब जानकीनाथ के रंगनराते ॥
हेमगले और सीसउतंस उठाये सोपाद महा हन्हनाते ।
कोटि तुरंग कुरंगसों कूदत दूर प्रभंजन को ले जाते ॥
दिग्गजसो गज भवनद्वार सो झूलत हैं मधुरा मधमाते ।
जोविध याहिभयी तो कहा, जब जानकीनाथ के रंगनराते ॥
चन्द्रमुखी बनिता घरमें और बाहरभूप खड़े न समाते ।
दूरहो सीस निवायरहे पुनः आदिश पाएसभी पदपाते ॥
भेटधेरे पदपंकज में और पाछल पाँव सभी हटजाते ।
जोविध याहिभयी तो कहा, जब जानकीनाथ के रंगनराते॥
कोटक भंजन हाटक भाजन डारसो सूंडविषे मलखाते ।
भूपजिते भूमण्डल के पुनहों अर्थी सो जिते पुरुषआते ॥

औरनू छत्र उतारमली विध, आपन सीस सो छत्रफिराते ।
जो विध याही भयी तो कहा, जब जानकीनाथ के रंगनराते॥
बैठबधु कुच कुंकुम केसर नखियन से जो करे जगहाते ।
आपसमान जने सुत सुन्दर जा जग झुण्डन झुण्ड सुहाते ॥
वीर तथा गुणवान महा पुन मात पिता सुख में ललचाते ।
जोविध याहिभयी तो कहा, जब जानकीनाथ के रंगनराते ॥

एक उदासीन साधुने यह वाणी पढ़ी:-

भूलो समाध जाप भूलगयो पुण्य पाप कौन हरको आप
कहाँलो बखानिये ।
विरहो सम्योग भये सोग उलट भोगभये सजन यह योगभयें
कैसे जी आनिये ॥
जानत है दूजा तब चाहत है पूजा यहाँ एक है न दूजा
कहो कैसे जी आनिये ।
जल में तरंग जैसे जीव और ब्रह्म ऐसे लाख रूप देखे को
एक रूप मानिये ॥

एक वैरागी ने कहा--

जामिलवे कोई बनवास उदास भये तज आसन जावें ।
जामिलवे को करें ब्रत तीरथ संयम योग समाधि लगावें ॥
जामिल्वे को शरीर तजें, तृणतुल्य कुटी, फल फूलन खावें ।
जामिल्वे को इतीव प्रपंच सो तो घर में घरकी सुध नाहिं ॥

एक कवीश्वर ने अपना काव्य सुनाया--

भूल गयो अज्ञान ते अपना शुद्ध स्वरूप ।
फेर उसी को पायबो ज्ञान कहें कवि भूप ॥

एक समदर्शी बोले–

सच्चिदानन्द रूप में नहीं भ्रम नहीं भूल ।
परमेश्वर को पायवो यही अविद्या मूल ॥
दर्दीवार दर्पण भये जित तित देखूं सोय ।
कंकी पथ्री ठीकी रही आरसी होय ॥
माला जपूं न कर जपूं मुख से जपूं न राम ।
राम हमारे हमें जपत हैं हम पायो विश्राम ॥
मन उन्मेख जगत भयो बिन उन्मेख निसाय ।
कहो जगत कहाँ संभवे जहाँ मनही आप विलाय ॥

एक प्रेमी भक्तजन कहने लगे–

जोगृहबैठूं तो बैठरहेढिग, जोकहीं जाऊँ तो आगेही धावे ।
सोयरहूं तो रहे स्वप्न में, चौंकपडूं तो कंठ लगावे ॥
मौन करूं तो बोल उठे घट, नयनन मूंदूं तो मुख दिखावे ।
वासररैन रमण मन मोहन हाथपसारूं तो हाथ न आवे ॥
मौनकहो मनमोहन मोहपे हाथ लभाऊं तो हाथ न आवे ।
बैठरहूं हटके घट में दुर देखवे को कोई घात न पावे ॥
ऐनसो ऐन जो गैन सो शैन जो बैन सो बैन बयान बतावे
प्यारी के प्राण नहीं में पियारो प्रीतिकी रीति न काहूलखावे

सब महात्माओं के बचनों को सुनकर श्रीमत निर्विकल्प देवने अपना उत्तम व्याख्यान ऐसे आरम्भ किया कि मैं इस समय परंहंस अवस्था में विचरा करताहूं और वर्तमानकाल के गृहस्थियों और त्यागियों के आशयों को देखताहूं, संसार में नाना प्रकार के मत फैलगये हैं जिनके अनुयायी प्रेमभाव को

छोड़कर द्वेश से काम लेते हैं और परस्पर विवाद करके संवाद का लाभ खोदेते हैं वास्तव में मोक्ष प्राप्ति के निमित्त वेदान्त और योग दो मुख्य साधन हैं जिनके विना अद्वैत स्वरूपका निश्चय दृढ़नहीं होता और ऐसे महापुरुष जो अपने अनुभव से जिज्ञासु के सर्व संशयों को मिटाकर उसे स्वरूप का ज्ञान करादेवें विरले हैं इस कारण मैंने अपने शिष्यों को मुमुक्षु की प्रथम अवस्था से समाधि पर्यंत सब युक्तियों का उपदेश प्रश्नोत्तर द्वारा किया है जिसको उन्होंने संसारियों के हितार्थ एक ग्रन्थ में छपवाकर उसका नाम निर्विकल्प दैवयोग रखा है, जो लोग इस छोटे से प्रबन्ध को पढ़ेंगे और विचारेंगे उनकी शंकाओं की ग्रन्थियाँ खुलजायेंगी और उसमें बताईहुई योग धारणा करने से परंपद की प्राप्ति होगी—

इसके उपरान्त श्रीयज्ञपुरुष हयग्रीव का अवतार धरके वहाँ प्रघटहुए और कहनेलगे कि मैंने वेदों में मनुष्यों को पुरुषार्थ करने की बारम्बार आज्ञादी है और बहुत प्रकार के यज्ञ बताये हैं जिनसे उनको व्यवहार और परमार्थ में सिद्धि प्राप्त होती है और जिनके न करने से वह निर्बल और दीन होकर अधोगति को पहुँचते हैं, मनुष्य की चञ्चलश्रुति सारे जगत में संकल्परूप से फैली रहती है किन्तु जब वह उसके पुरुषार्थ-द्वारा सिमटकर और अन्तर्मुख होकर ललाट में निश्चल हो-जाती है तब यज्ञ सिद्ध होता है इस हेतुसे मेरा देह मनुष्य कासा और शिर घोड़ेकासा मानाजाता है और मैं यज्ञ का भोक्ता और फल देनेवाला होकर अधियज्ञ कहलाताहूं

हे चैतन्य स्वप्नद्रष्टा तूने जो पुरुषार्थ करके सतयुग से लेकर इस समय तक के देवता ऋषी और महात्माओं का आवाहन और उनके सत्सङ्ग द्वारा ब्रह्मयज्ञ का अनुष्ठान किया वह यथायोग्य फलदायक हुवा इसलिये मैं अपनी मर्यादानुसार यहाँ आया हूं और इस यज्ञ का यह प्रसाद देता हूं कि जो पुरुष इसके वृत्तान्त को श्रद्धासहित पढ़ेंगे और विचारेंगे और इसमें बताई हुवी युक्तियों में से किसी एक की भी धारणा करेंगे उन्हें प्रत्यक्ष और संपूर्ण ब्रह्म दर्शन प्राप्त होगा, परन्तु जो कोई पाठ मात्र में प्रवृत्त होंगे उनको उसका दर्शन ऐसा मिलेगा जैसे कोई दूर खड़ा होके किसी बड़कोट अथवा महाभवन को बाहर से देखता है, जो लोग इस वृत्तान्त को पढ़ते हुवे इसके आशयको भली प्रकार विचारेंगे उन्हें ब्रह्मभवन के सब मण्डलों की चित्रकारी और अन्तय आभरणों की शोभा का ज्ञान होगा और जो मनुष्य राग और द्वेष से विरक्त होके इसकी युक्ति का अभ्यास करेंगे उनका निश्चयात्मक प्रवेश पूर्वोक्त भवन में अवश्य होगा—

हे चैतन्यद्रष्टा प्रत्येक यज्ञ में आज्यदर्शन हुआ करता है जिसकी यह विधि है कि घृत के तप्त होजानेपर यजमान अपनी छाया को उसमें देखता है अर्थात द्रष्टा की छाया घृत में पड़ने से द्रष्टा दर्शन और दृश्य यह तीन पद जिनका नाम कारण सूक्ष्म और स्थूल भी है प्रतीत होतेहैं, घृत में जो तपन होती है वह द्रष्टा और दृश्य को स्पर्श नहीं करती किन्तु उसी में रहती है और यजमान उस घृत को अपनी छाया के देख-लेने पर अग्निज्योंति में स्वाहा करदेता है—अर्थात अन्नमयकोश

स्थूल और तमोगुणी होने के कारण दुख सुख का अनुभव नहीं करसक्ता और इस बात का मृतकदेह प्रत्यक्ष प्रमाण है, इनका द्वन्द तो प्राणमय और मनोमय इन दो कोशों में जो मिश्रित होके सूक्ष्म और राजसी कहलाते हैं आर जिनकी जीवन अवस्था साक्षी है प्रगट होता है, विज्ञान और आनन्द मय कोशोंका कारण स्वरूप और सात्विकभाव है और वह दोनों द्वन्द से रहित हैं, इन पञ्च कोशों के एकत्र होने के समय ममत्व का भ्रम उत्पन्न होता है जिसके सम्बन्ध से चैतन्य हर्ष और शोकको अपने निर्विकार रूप में मानलेता है, सारार्थ यह है कि राग और द्वेष का रोग जो देह धारियों के सूक्ष्म शरीर में है उसके निवारण करने के निमित्त सूक्ष्म शरीर की औषधि करनी उचित है अन्य अंगों की औषधि का सेवन करने से वह रोग नहीं जाता--

यदि पूछाजावे कि इस रोग की उत्पत्ति कैसे होती है तो मैं उसका यह वर्णन सुनायेदेताहूं कि चैतन्यकी छाया के त्रिगुणात्मक रूप से प्रथम आकाश तत्व स्वभानुसार प्रघट होता है जिसमें सतसे स्थिति रज से शब्द और तम से लोभकी प्रतीति होती है और जिसका निज गुण शब्द माना जाता है-

आकाश में शब्द की प्रेरणा से पवन बनती है जिसमें सतसे प्राण रज से स्पर्श और तम से काम उत्पन्न होता है और पवन में शब्द और स्पर्श दो गुण रहते हैं

पवन और कान के मिलने से अग्नि उत्पन्न होती है जिस में सत से तेज, रज से रूप और तमसे क्रोध व्यक्तहोता है,

और अग्नि में तीन गुण शब्द स्पर्श और रूप अवस्थित हैं-

अग्नि और क्रोध के मिश्रित होनेपर जल उत्पन्न होता है और इसमें सत से शान्ति, रज से रस और तम से मोह का संभव है और जलमें चारगुण शब्द स्पर्श रूप और रस बास करते हैं-

जल और मोह के मिलाप से पृथिवी का आकार बनता है और इसमें सतसे निश्चय, रजसे गन्ध है और तमसे मत्सर प्रघट होजाता है और पृथिवी में पांचगुण शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का समूह है-

इस समूह में अधिक प्रवृत्ति होनेपर तामसी अहंकार उत्पन्न होता है और काम क्रोध, लोभ, मोह और मत्सर के रोग वृत्तिरूप सूक्ष्म शरीर को लगताते हैं जिनका निवारण करने के निमित्त वेद शास्त्र और महात्माओं ने अनेक युक्ति रूप औषधियाँ बताई हैं परन्तु उनके सेवन की प्रक्रिया न जानने से संसारियों के रोग दूर नहीं होते-

सम्यक विचार से यह सिद्ध होगा कि मत्सर और स्मृति का एकही अधिष्ठान है क्योंकि जब कोई वस्तु भूलजाती है तो उसको स्मृति के कोश में ढूंढा करते हैं और वह ऐसा करने पर वहीं मिलती है, इन दोनों का ऐसा दृष्टान्त है जैसे बहुत से लिखेहुवे पत्र ऊपर नीचे रखे हों तो ऊपर का पत्र सन्मुख होता है और वह स्मृति का रूप है और जो नीचे के पत्र होते हैं वह न दिखने के कारण मत्सर अथवा भूल के समान हैं वास्तव में स्मृति और भूल एक अन्तःकरण की

अपरोक्ष और परोक्ष दो मूर्तियाँहैं, इतना तत्वबोध कराके यज्ञ पुरुषने अपना व्याख्यान समाप्त किया, तब श्रीपराशर मुनि ने कहा हे चैतन्यद्रष्टा तेरा स्वाध्याय यज्ञ अनुभवी स्वप्न द्वारा सिद्ध हुवा और ऐसे स्वप्नों की रचना का अन्त नहीं तू इनको कहां तक देखता जावेगा–

रात्रि व्यतीत हुवी, प्रातःकाल होने वाला है और यह सब देवता और संतजन इतनी समय से सभा में आए हुवे हैं तू उनके विसर्जन का संकल्प करदे कि वह अपने अपने स्थान पर विश्राम पावें–

परमावधूत दत्तात्रेय कहने लगे कि समरूप शिवके अर्चन में न तो आवाहन और न विसर्जन बनता है न पुष्पों और पत्रों की आवश्यक्ता है और न मन्त्रों का कोई प्रयोजन है –

नावाहनं नैव विसर्जनं वा पुष्पाणि पत्राणि कथम् भवन्ति ।
ध्यानानि मन्त्राणि कथं भवन्ति समासमं चैव शिवार्चनंच ॥

इन शब्दों का उच्चारण होते ही सब देवता और महात्मा अपने अपने आश्रमों को चलने लगे–

श्री सदा शिवजी तुंगनाथ के मार्ग से गुप्तकाशी होते हुए शिवलोक में कैलाश पर्वत की केदारनाथ नामी शिखर को सिधारे और सनकादिक जो उनके संग थे त्रियुगी नारायणके पर्वत के नीचे सनकगंगा के किनारे किनारे कैलाश की बाहीं और अपने स्थान को चले गए–

श्री ब्रह्माजी, महर्षि वसिष्ठ और बहुत से मुनिजनों के

साथ त्रियुगी नारायण के पर्वतको उलांघ के ब्रह्मलोक में गंगोत्री धाम को गए-

परमावधूत दत्तात्रेय अनेक संतों सहित त्रियुगीनारायण पर्वत के पार होके उत्तरकाशी में पहुंचे और वहां उन्होंने विश्राम किया-

श्री अष्टावक्रजी विष्णुप्रयाग, नन्दप्रयाग, कर्णप्रयाग और रुद्रप्रयाग नामक चारों प्रयागों से होते हुए श्रीनगर के पर्वत पर अपने मंदिर में जा टिके-

श्री वेदव्यास और शुकदेवजी ने अष्टावक्रजी से पृथक होके देवप्रयाग से आगे व्यासचट्टी के रमणीक स्थानमें जहां भागीरथी और व्यास गंगा का संगम है निवास किया-

बहुत से संत और साधु बद्रिकाश्रम से उतरकर तपोभूमि ऋषीकेश हरद्वार और कङ्खल आदि स्थानों में चले आए-

सबके अंतमें श्री विष्णु भगवान नर और नारायण दोनों पर्वतों के मध्य विष्णुलोक में श्रीबद्रीनाथ का नर रूप धरके और तपमें प्रवृत्त होके अन्तर्ध्यान होगए, तब श्री पराशरजी ने विवक्तदेश और एकान्त समय में स्वप्न द्रष्टा से कहा कि तूने जो देवताओं की विचित्र मूर्तियां देखी हैं यही ब्रह्मके अंग हैं और इन सबका समग्रदर्शन ब्रह्मदर्शन कहलाता है और वह चक्षु द्वारा नहीं बनता किन्तु अनुभव से अध्यात्ममें निश्चित होता है, इस अनुभवी लक्ष्यके जानने के लिये यज्ञ, दान, तप, उपासना और योगादिक सर्व शुभकर्म साधन हैं अर्थात् जिस

समय मनुष्यके हृदय में अपने स्वरूपके पहचानने की इच्छा उत्पन्न होती है तब वह शुभकर्म और सत् धर्म में प्रवृत्त होता है और इस विधी से स्वभाव के विमल होजाने पर उसको यत्न द्वारा अनुभव और ज्ञान प्राप्त होता है जिस अवस्था में वह अपने साक्षीभावको अन्तर और बाहर प्रत्यक्ष देखता है और संसार को स्वप्नवत जानकर सुने हुए आशयों से उदासीन हो जाता है और नवीन आशयों के सुनने की कामना नहीं रखता ऐसी परंगति को विज्ञान जाग्रत कहना उचित है और जागता पुरुष उस परमानन्द को अनुभव करता हुआ भी यथावत वर्णन नहीं कर सक्ता—

यदाते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदागन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्यच ॥
श्रुतिविप्रतिपन्नाते यदास्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदायोग मवाप्स्यसि ॥

हे चैतन्यद्रष्टा अब तू अनुभवी स्वप्नसे मेरे विज्ञानरूपी परमानन्द में अपने स्वरूप को देखकर जाग, कि इस से उत्तम कोई अवस्था नहीं है—

आश्चर्यवत्पश्यतिकश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदतितथैवचान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोतिश्रुत्वाप्येनंवेदनचैवकश्चित् ॥

मेरे नाम का प्रथम पराशब्द पराविद्या अथवा अनुभव को दर्साता है और दूसरा शरशब्द अपराविद्या अथवा बुद्धि के बाणों को जताता है जो मेरे तेजमय स्वरूपसे किरणों की

न्याईं सर्व दिशामें जारहे हैं परन्तु जितने बाण शून्यमें जाते हैं वह लक्षपर नपहुंचकर व्यर्थ होजाते हैं और जो बिन्दुके लक्षपर जाठहरते हैं उनसे परमार्थ सिद्ध होता है

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मांवेत्ति तत्वतः ॥

अब तू मेरी आज्ञानुसार सः शब्द के तेजस्वरूप और अहंशब्द के प्रकाशरूप को देखताहुआ निगम अवस्था के बोध में मग्नरह—

यानिशा सर्वभूतानां तस्यांजागर्ति संयमी ।
यस्यांजाग्रति भूतानिसानिशापश्यतोमुनेः ॥

इतने में पूर्वदिशा से ऊषाकी लाली निकलआई, चन्द्र-ज्योति मंद होगई, तारागण छुपनेलगे और आकाश निर्मल होगया तब उस लाली में से एक अतिदीप्तमान सूर्य उदयहुआ जिसके शान्त और सुखैकरूप तेजसे स्वप्नद्रष्टा चौंककर जाग उठा और ऐसी चकाचौंद में वह उस सूर्य और उसके प्रकाशको सर्वत्र देखताहुआ और यह वचन कहताहुवा सहज अवस्था धारण किये इन्द्रप्रस्थ में वास करने लगा—

ब्रह्मानन्दं परंसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिम् ।
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्षम् ॥
एकंनित्यममलमचलं सर्वधी साक्षीभूतम् ।
भावातीतं, त्रिगुणरहितं, सद्गुरुं तन्नमामि ॥